सस्ता-साहित्य-मण्डल

दूसरा ग्रन्थ [१]

जीवन साहित्य

[पहला भाग]

लेखक

आचार्य काका कालेलकर

प्रकाशक

सस्ता साहित्य मण्डल,

दिल्ली

[१]

जीवित इतिहास

भारत का इतिहास भारतीयों द्वारा नहीं लिखा गया है—इस बात का हम कितना ही विरोध करें, तो भी यह सिद्ध नहीं होता कि प्राचीन समय का हमारा इतिहास लिखा गया है। रामायण और महाभारत इतिहास नहीं कहे जा सकते। आधुनिक दृष्टि से वे इतिहास हैं ही नहीं। हाँ रामायण और महाभारत में तथा पुराणों में भी इतिहास है ज़रूर, किन्तु वह सब धर्म का निश्चय करने के लिए दृष्टान्त-रूप हैं। महावंश और दीपवंश इतिहास माने जा सकते हैं, पर वे सीलोन के हैं और उनमें इतिहास बहुत थोड़ा आया है। कश्मीर की राजतरंगिणी के विषय में भी ऐसा ही कहा जा सकता है। तो फिर प्रश्न उठता है, हमारा इतिहास क्यों नहीं है? जीवन के किसी भी अङ्ग को लीजिए, उसमें असाधारण प्रवीणता हमने सम्पादन की है, फिर भी हमारे यहाँ इतिहास क्यों नहीं है?

इतिहास का अर्थ है मनुष्य-जाति के सम्मुख उपस्थित हुए प्रश्नों का उल्लेखन। इनमें कितने ही प्रश्न निर्णीत हो चुके हैं और कितने ही अभीतक अनिश्चित हैं। जिन प्रश्नों का निश्चय हो चुका है, वे अब प्रश्न नहीं रहे: उनका तो निराकरण हो चुका है. और वे सामा-

जिक जीवन में संस्कार-रूप से प्रविष्ट हो गये हैं। जिस प्रकार से अन्न पचा नहीं कि उसका रक्त बन जाता है, उसी प्रकार ये प्रश्न राष्ट्रीय मान्यता अथवा संस्कारों में परिणत हो जाते हैं। खाना हज़म होजाने पर मनुष्य इस बात का विचार नहीं करता कि मैंने कल क्या खाया था। ठीक इसी तरह जिन प्रश्नों का उत्तर मिल गया है, उनके विषय में वह उदासीन रहता है।

अब विचारणीय है अनिर्णीत प्रश्नों का विषय। हम लोग परमार्थी हैं। अतएव हम अनिश्चित प्रश्नों को काग़ज़ पर लिख रखना नहीं चाहते। अनिश्चित प्रश्नों में मतभेद होता है। जितने मतभेद होते हैं उतने ही सम्प्रदाय हम खड़े करते हैं। वेदों के उच्चारण में मतभेद हुआ तो हमने भिन्न-भिन्न शाखायें खड़ी कर दीं। ज्योतिष में मतभेद हुआ तो स्मार्त और भागवत एकादशी जुदी-जुदी मानी। दर्शनशास्त्र में तत्त्वभेद मालूम हुआ, तो द्वैत और अद्वैतवाद के मार्ग हमने उत्पन्न किये। आहार और उद्योगों में भेद हुआ, तो हमने भिन्न-भिन्न जातियाँ बना लीं। जहां सामाजिक रीतियों में मतभेद हुआ, वहाँ हमने उप-जातियाँ खड़ी कर दीं। यदि मनुष्य भूल से किसी रीति को तोड़ दे, या बड़े-से बड़ा पाप करे, तो उसके लिए प्रायश्चित्त का विधान है; उतने ही के लिए नई जाति नहीं खड़ी की जाती। हम लोग त्योहारों के द्वारा महान् ऐतिहासिक और राष्ट्रीय महत्व की घटनाओं के इतिहास को जागृत रखते हैं। इसी तरह हरेक सामाजिक हलचल के इतिहास को, उस हलचल के केन्द्र को तीर्थ-रूप देकर, हम लोगों ने जीवित रक्खा है। इस तरह, इतिहास लिखने की अपेक्षा इतिहास को जीवित

रखना, अर्थात् जीवन में उसे चरितार्थ कर दिखाना, हमारे समाज की खूबी है। चीथड़ों के बने काग़ज़ों के ऊपर इतिहास लिखना अच्छा, या जीवन ही में इतिहास का संग्रह रखना अच्छा? इन दोनों में कौनसा रास्ता अधिक सुधरा हुआ है, यह कहना क्या कठिन है? जबतक हमारी परम्परा टूटी नहीं थी तबतक हमारा इतिहास हमारे जीवन में जीवित था। अभी भी यदि लोगों के रीति-रिवाज, उनकी मान्यताओं जाति-संगठन तथा त्योहारों की खोज की जाय तो बहुतसा इतिहास मिल सकता है। हाँ, वह बहुतांश में राजकीय न होगा, राजनैतिक न होगा; वरन् सामाजिक और राष्ट्रीय होगा। क्या इतिहासों के संशोधक इस दिशा में परिश्रम न करेंगे?

[२]

सत्यनारायण

स्वामी विवेकानन्द ने अपने 'उद्बोधन' में कितनी ही उत्तम कथायें और सुन्दर शब्द-चित्र दिये हैं। उनमें एक यह भी है: —"सनातन हिन्दू-धर्म का कैसा भव्य गगन-स्पर्शी मन्दिर! मन्दिर में जाने के रास्ते भी कितने! और उस मन्दिर में नहीं क्या है? वेदान्तियों के निर्गुण ब्रह्म से लेकर ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, दुर्गा, सूर्यनारायण, चन्दामामा और चूहे पर सवारी करनेवाले गणेश-जी से ठेठ छट्ठी, शीतला जैसे छोटे-बड़े देव-देवियां पर्यन्त सभी कुछ हैं। और वेद, वेदान्त, दर्शन, पुराण तथा तन्त्र आदि में इतनी सामग्री भरी पड़ी है कि, उनमें से किसी एकही के द्वारा भव-बन्ध छूट

सकता है। फिर इस मन्दिर के सम्मुख लोगों की भीड़ भी कितनी? तैंतीस करोड़ मनुष्य उस मन्दिर की ओर दौड़ते हैं। हमारे मन में भी कुतूहल हो जाने से हम पैदल चले। पर जाकर देखते क्या हैं? मन्दिर के भीतर तो कोई जाता ही नहीं। दरवाजे पर पचास सिर, सौ हाथ, दो पेट और पचास पाँव की एक मूर्ति खड़ी है और सब लोग इस मूर्ति के चरणों में लोट रहे हैं। एक मनुष्य से पूछा गया कि, यह है क्या? तो उसने कहा कि उस मन्दिर में जो देव-देवियां देख पड़ती हैं, उन्हें दूर ही से नमस्कार करना चाहिए और उन पर एक-दो फूल फैंक दें तो उनकी खूब पूजा हो गई, समझनी चाहिए। किन्तु असली पूजा तो इन द्वारस्थ देवता ही की करनी चाहिए। और आज दिन जो वेद, वेदान्त, दर्शन, पुराण और शास्त्र सभी तुम देखते हो इनका श्रवण प्रसङ्गोपात्त करो तो कुछ बाधा नहीं, परन्तु हुक्म तो इन्हीं का मानना चाहिए।

"हमने फिर पूछा, 'तो इन 'देवाधिदेव का नाम क्या है' ? उत्तर मिला, 'लोकाचार।"

इस चमत्कार-पूर्ण शब्द-चित्र में स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू-धर्म का असली स्वरूप बतलाया है। यह स्थिति हिन्दू-धर्म ही की है सो नहीं। सारे संसार में सभी धर्मों की यही स्थिति है। शास्त्र की प्रगति तर्कानुसार भले ही चले, किन्तु लोकरूढ़ि तो उसी दिशा में बहती है जहां हृदय का प्रवाह जाता है। ईसाई-धर्म में तथा इस्लाम में कितने ही संस्कार और प्रणालियाँ उन धर्मों के सिद्धान्तों से भिन्न ही हैं। हिन्दुस्तान के समाज में द्विजाति और अद्विजाति दो बड़े भेद होने के कारण

शास्त्र-धर्म और प्राकृत-धर्म इस तरह दो निश्चित भेद पड़े हुए हम देखते हैं। धर्म-सुधारकों ने समय-समय पर इस प्राकृत धर्म को सुधार कर उसे संस्कृत धर्म बना देने का प्रयत्न किया है। रूढ़-धर्म और उसकी रूढ़ियों की निन्दा करने ही में हमने इधर कितने ही वर्ष गँवा दिये, परन्तु यह हमारे ध्यान में न आया कि रूढ़-धर्म के मूल में राष्ट्रीय प्राण निहित होता है। देश की खामी और खूबी, देश की शक्ति और अशक्ति, इस रूढ़-धर्म ही की अहसानमन्द होती है। किसी भी देश का शास्त्र-धर्म उस देश के आदर्श अथवा महत्त्वाकांक्षा को बतलाता है, किन्तु देश की यथार्थ स्थिति रूढ़-धर्म पर से ही समझ में आ सकती है। समाज जब बहते हुए पानी के सदृश पुरुषार्थी और स्वच्छ होता है, तब शास्त्र-धर्म पत्थर के समान कठोर नहीं बन जाता; और न रूढ़-धर्म ही अपमानित होता है। समाज में उच्च-वर्ग और सर्वसाधारण वर्ग जब परस्पर मिल-जुलकर रहते हैं तब शास्त्र-धर्म की उदात्तता रूढ़-धर्म में झरकर उतर आती है, और जैसे कमल को कीच से पोषण मिलता है वैसे ही शास्त्र-धर्म को रूढ़-धर्म से नित्य नया भोजन मिलता है। शास्त्र-धर्म का तर्कशास्त्र बहुत तीक्ष्ण होता है, शास्त्र-धर्म का मानस-शास्त्र बहुत सूक्ष्म होता है। रूढ़-धर्म भोला होता है। वह मनुष्य-स्वभाव की गहरी परीक्षा नहीं करता। शास्त्र-धर्म तो ब्रह्मदेव के समान हँसारूढ़ होता है, पर रूढ़-धर्म बहुचराजी* के समान कुक्कुट-वाहन होता है। शास्त्र-हंस को तत्त्वरूपी मोती मिलते हैं या नहीं, यह तो बतलाना कठिन है;

---

* भगवती भवानी की एक विभूति का नाम।

किन्तु रूढ़ि-मुर्गे को, उसके बहुत फिरते रहने के कारण, संस्कार रूपी दाने खूब मिल जाते हैं।

आजकल यूरोप में एन्थ्रोपॉलॉजी (Anthropology) अथवा मानव-वंशशास्त्र की ओर संस्कारी लोगों का ध्यान विशेष रूप से हैं। इसका प्रभाव यहां भी पड़ा है, और यहांके विद्वान् गण शास्त्रबाह्य हिन्दू संस्कारों का और रीतियों का अध्ययन करने लगे हैं। बङ्गाल में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बाउल-सम्प्रदाय के साहित्य की ओर लोगों की दृष्टि आकर्षित की है। मैसोर में मिथिकल सोसाइटी ने और बम्बई में सर नारायण चन्दावरकर ने, लोक-रूढ़ि की दृष्टि से, हिन्दू-धर्म का रहस्य खोज निकालने का प्रयत्न आरम्भ किया है। यूरोप में मानव-वंश-शास्त्री मुख्यतः इस तरह के साधनों को संग्रह करने और भिन्न-भिन्न देशों की प्रचलित मान्यताओं की तुलना करने का काम करते आये हैं।

(संस्कारी सनातन धर्म का रूढ़-धर्म भी महान् संस्कारी है। इसका अध्ययन जुदा ही रीति से होना चाहिए। किम्बहुना, हिन्दू-समाज के नेताओं की दृष्टि पहले ही से इस रूढ़-धर्म की ओर जा चुकी थी; अतएव उन्होंने रूढ़-धर्म के स्वतन्त्र प्रवाह को किसी तरह भी रोके बिना ही उसे संस्कारी बनाने का शुभ प्रयत्न पहले ही से अङ्गीकार किया है। उन्होंने रूढ़ धर्म के सभी देव-देवियों को पञ्चायत के अवतार बना डाला, उनमें से प्रमुख देव-देवियों को राष्ट्रीय त्योहारों में स्थान दे दिया, मांस के स्थान में उड़द का आटा और कुम्हडा रखकर हिंसक संस्कारों को अहिंसक बना दिया और जन-साधारण को उन्नति के मार्ग पर लगाया।)

रूढ़-धर्म में बहुत शुद्धता की खोज करना ही भारी भूल है। लोगों

का स्वभाव जैसा है वैसा ही उसे लेकर उसमें उन्नति का एकाध बीज बो देना और लोक-जीवन में अहिंसा की एकाध काव्यमयी छटा मिला देना, इतना ही काम वहां हो सकता है। इसी दृष्टि से हिन्दू शास्त्र-कारों ने रूढ़-धर्म में कौनसे और कितने संस्कार किये हैं और उसके बदौलत आज का हिन्दू-जीवन कैसा संस्कारी और काव्यमय हो गया है, यह हमें संस्कृति की दृष्टि से जाँचना चाहिए। भगिनी निवेदिता ने इस तरह का अध्ययन बहुत किया है। फील्डिङ्ग हाल ने ब्रह्मदेश के सम्बन्ध में इसी तरह के लेख लिखे हैं। किंकेड साहब ने एङ्गलो-इण्डियन पद्धति से इस दिशा में बहुत-कुछ लिखा है। परन्तु हम इतने ही से सन्तोष नहीं मान सकते। हमें हरेक त्योहार, रीति और संस्कार की छानबीन करनी चाहिए और यह खोज निकालना चाहिए कि उसमें कौनसा रहस्य निहित करने का प्रयत्न किया गया है। रूढ़ि में दोषों का देखना कुछ कठिन नहीं हैं, परन्तु सत्य-दृष्टि गुण-दोषों की विवेचना नहीं करती, वरन् रहस्य जानना चाहती है। हमारे देश में प्रचलित व्रत और उत्सवों का अध्ययन इसी दृष्टि से करने का हमारा विचार है। सारे भारत में अत्यन्त लोकप्रिय और औरों से अत्यन्त नवीन व्रत सत्यनारायण के व्रत से हम इसका प्रारम्भ करते हैं।

"सत्या परता नाहीं धर्म, सत्य तेंच परब्रह्म"

—मुक्तेश्वर

सत्यनारायण का व्रत गुजरात, महाराष्ट्र, संयुक्तप्रान्त, मध्यभारत और मध्यप्रान्त में बहुत लोकप्रिय है। धर्म-शास्त्रों में इस व्रत को स्थान नहीं, किन्तु रूढ़-धर्म में सत्यनारायण-व्रत का स्थान उच्च है। लोगों की यह धारणा है कि इस व्रत से मनोकामनायें सिद्ध होती हैं।

इस व्रत में सत्यनारायण की पूजा, कथा-श्रवण और प्रसाद-भक्षण ऐसे तीन मधुर विभाग हैं। शायद इसी कारण इस व्रत में सत्य की जो महिमा है, वह लोगों के ध्यान में नहीं आती। लोगों का ध्यान उस ओर आकर्षित करने के लिए यह छोटा-सा प्रयत्न किया जा रहा है। इस रहस्य को पढ़ने के पूर्व जिन्हें सत्यनारायण की कथा मालूम न हो, उन्हें उसे जान लेना परम आवश्यक है।

धर्म मानवी-हृदय की अत्यन्त उच्च वृत्ति है; और वह मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन में व्याप्त रहती है। हमारा जीवन जैसा ही उत्तम, मध्यम अथवा हीन होता है, वैसा ही रूप हम धर्म को भी देते हैं। बुद्धि-प्रधान तार्किक लोग जहाँ धर्म-वृत्ति को तत्त्वज्ञान का दार्शनिक रूप देते हैं, प्रेमी नम्र लोग उपासना का रूप देते हैं, कर्मप्रधान कला-रसिक लोग पूजा-अर्चा इत्यादि तान्त्रिक विधियों द्वारा धर्म-वृत्ति का पोषण करते हैं, तहां साधारण अज्ञ जन-समुदाय कथा-कीर्तन द्वारा ही धर्म के उच्च सिद्धान्तों का आकलन कर सकता है।

धर्माचरण के फल के सम्बन्ध में भी यही सिद्धान्त लागू होता है। धर्माचरण का फल अन्तरस्थ और उच्च होता है, यह बात जिनके ध्यान में नहीं आ सकती उनके सन्तोषार्थ पौराणिक कथाओं द्वारा बाह्य फल दिखलाने पड़ते हैं। धर्मतत्त्व कितने ही ऊँचे हों, किन्तु यदि उन्हें समाज में रूढ़ करना हो तो, उन्हें समाज की भूमिका पर्यन्त नीचे उतारना पड़ता है। भगवान् तथागत के उपदिष्ट तत्त्व उच्च, उदात्त और नैतिक थे, किन्तु जब उन्हें देवी-देवता, पूजा-अर्चा तथा मन्त्र-तन्त्र आदि का तान्त्रिक स्वरूप देकर महायान-पन्थ अवतरित हुआ तभी वे तत्त्व अथवा उनका

अंश आधे एशिया खण्ड को ऊँचा। यह सत्यनारायण का व्रत भी इसी किस्म का एक ताज़ा उदाहरण है। सत्यनारायण का व्रत इसी अन्तिम शताब्दी के भीतर निर्माण हुआ है, ऐसा एक पुराण-धर्माभिमानी शास्त्री ने कहा था। परन्तु इस व्रत के विस्तार और लोकप्रियता को देखकर यह कहने में कोई बाधा नहीं है कि लोगों के हृदय में निवास करने-वाले धर्म का स्वरूप इस व्रत में दृग्गोचर होता है।

संसार का बहुत-सा व्यवहार अल्प-प्राण लोगों के हाथ में होता है। बहु-जन-समाज की सत्य पर श्रद्धा बहुत थोड़ी होती है। संसार में चाहे जैसी हानि को सहन करने योग्य पुरुषार्थ लोगों में नहीं दिखाई देता। सत्यासत्य का कोई-न-कोई विधि-निषेध रक्खे बिना क्षणिक और दृश्य-मान लाभ के लिए लोग वचन भंग कर डालते हैं, नियम भंग कर देते हैं और झूठे को सच्चा कर दिखलाते हैं। अतएव यह एक भारी प्रश्न है कि कामना- सिद्धि के लिए सत्य को धता बताने वाले अज्ञ जनों को सत्य की लगन किस तरह लगनी चाहिए और ऐसी श्रद्धा किस तरह दृढ़ करनी चाहिए कि सत्य-सेवन ही से अन्त में सर्वकामना-सिद्धि होती है। साधु-सन्तों ने, नियमों की रचना करनेवालों ने, तथा समाज के नेताओं ने अनेकों प्रकार से प्रयत्न कर देखे हैं। सत्यनारायण-व्रत के प्रवर्त्तक ने इस प्रश्न को अपनी शक्ति और बुद्धि के अनुसार सत्यनारायण की पूजा और कथा द्वारा हल करने का प्रयत्न किया है।

(लोगों में सत्यनारायण की पूजा प्रचलित करने से दो हेतु सिद्ध होते हैं। लोग सत्य-सेवी हों यह एक उद्देश्य; और सत्य की महिमा समाज में निरंतर गाई जाया करे, यह दूसरा उद्देश्य। इस पूजा का

नाम उत्सव नहीं व्रत रक्खा है, यह बात भी इस जगह ध्यान में रखने योग्य है। उत्सव में हम लोग किसी भूत वृत्तान्त का अथवा किसी धार्मिक तत्त्व का उत्साहपूर्वक सहर्ष स्मरण करते हैं, और व्रत में हम अपना जीवन उच्चतर बनाने के लिए किसी दीक्षा को ग्रहण करते हैं।

सत्यनारायण की कथा श्रवण करने और स्वादिष्ट प्रसाद भक्षण करने मात्र से कहा जायगा कि सत्यनारायण का उत्सव हुआ। पर वह व्रत किसी तरह नहीं माना जा सकता। जिसे सत्यनारायण का व्रत करना हो उसे सर्वदा, सभी स्थानों में और सभी प्रसंगों में सत्य के आचरण की, और अवसर आ पड़ने पर सभी लोगों को सत्य का महत्व समझा कर सत्य का कीर्तन करने की, दीक्षा ग्रहण करनी होगी। यदि इसी तरह व्रताचरण किया जाय तो ही कर्त्ता को सत्यनारायण व्रत के करने का फल प्राप्त हो सकता है अन्यथा नहीं।

संसार में सभी लोग सामर्थ्य और सम्पत्ति चाहते हैं। धर्म कहता है कि, 'तुम्हें भूतदया और सत्य-आचरण के द्वारा ही सच्ची सामर्थ्य और सम्पत्ति प्राप्त हो सकती है।' पुराणों ने इसी सिद्धान्त को एक सुन्दर रूपक देकर हमारे मन में बैठाया है। पुराणों का कथन है कि सामर्थ्य और सम्पत्ति, अर्थात् शक्ति और लक्ष्मी, क्रमशः कल्याण की अभिलाषा और सत्य अर्थात् शिव और सत्यनारायण के अधीन रहते हैं; क्योंकि शक्ति तो शिवजी की पत्नी है, और लक्ष्मी सत्यनारायण की। यदि तुम पति की आराधना करोगे तो पत्नी तुमपर अवश्य ही अनुग्रह करेगी। इस तरह धन, धान्य, सन्तति और सम्पत्ति आदि ऐहिक लक्ष्मी की इच्छा

रखने वाले मनुष्यों को सत्य की अर्थात् सत्यनारायण की, आराधना करना इस व्रत में कहा गया है।)

(हिन्दू-धर्म और हिन्दू-नीतिशास्त्र में सत्य का बहुत ही व्यापक अर्थ किया गया है। श्री वेदव्यास ने महाभारत में सत्य के तेरह प्रकार कल्पित किये हैं। हिन्दू-शास्त्र और पुराणों को उलट-पलट कर देखा जाय तो परस्पर बिलकुल ही विभिन्न ऐसी तीन वस्तुयें सत्य शब्द में समाविष्ट होती हैं।

पहली वस्तु—सत्य अर्थात् यथार्थ कथन। जो बात जैसी हो, हम उसे जिस स्वरूप में जानते हों, अथवा जिस स्वरूप में बनी हुई हमने देखी हो, जिस स्वरूप में हमने उसकी विवेचना की हो, उसे ठीक ज्यों-की-त्यों कह देने का नाम है सत्य।

दूसरी वस्तु—सत्य अर्थात् ऋतम्, सृष्टि का नियम अथवा किसी भी महाकार्य का विधान। 'सत्य ही से सूर्य उदय होता है,' 'सत्य ही से वायु बहता है,' 'सत्य ही से पृथ्वी विश्व को (सब को) धारण करती है,' 'सत्य ही से यह लोक चलता है,' 'सत्य ही यश की प्रतिष्ठा है' इत्यादि शास्त्र-वचनों में सत्य का अर्थ अनुल्लंघनीय नियम होता है।

तीसरी वस्तु—सत्य अर्थात् प्रतिज्ञा-पालन। यहां सत्य के मानी हैं मुँह से एक बार निकाले वचन का पालन करने की टेक; एक बार मुँह से निकाले वचन को व्यर्थ न जाने देने की टेक। 'इसी सत्य के लिए कर्ण ने अपने कुण्डल दे दिये थे। इसी सत्य के लिए श्रीराम बनवास गये थे। इसी सत्य के लिए हरिश्चन्द्र ने राज्य का दान कर दिया। और तो क्या, मातृ-भक्त पाण्डवों ने माता के वचन को सत्य करने के लिए

एक द्रौपदी के साथ पाँचों भाइयों का विवाह कर लेने जैसे निन्दनीय कर्म को भी कर डाला ! (आजकल हमारे सत्य और स्वामी-भक्ति की धारणा अधिक विशुद्ध हो गई है। अपने पुत्र क्या वस्तु प्राप्त कर लाये हैं, इस बात को जाने-समझे बिना ही, 'पांचों भाई बराबर बांट लो' इस तरह माता के मुख से निकले वचन को सत्य करने के लिए यदि पाँच भाई सम-विवाह करने को उद्यत हों, तो हम उन्हें सत्यद्रोही और मूर्ख कह डालेंगे। स्वप्न में ब्राह्मण को दिया वचन सत्य करने के लिए प्रजा की मिलकियत सम्पूर्ण राज्य को, प्रजा को महाभयंकर सङ्कट में डालनेवाले एक तामसी ब्राह्मण को सौंपने वाले राजा को हम राज्य-धर्म-भ्रष्ट, श्रद्धा जड़ और पामर कहेंगे। अस्तु। पर यहाँ तो हम पुरानी धारणा के अनुसार सत्यनारायण की कथा का रहस्य खोलने चले हैं।)

जन-समुदाय में दो वृत्तियां खास तौर पर बलवती होती हैं—लोभ और भय। इन दोनों वृत्तियों से लाभ उठाकर सत्यनारायण के कथा-कार ने सत्य की महिमा गाई है। यदि आप सत्य का सेवन करें तो आपको सन्तति और सम्पत्ति आदि सभी सामग्री मिल जायगी, समस्त संकट दूर होंगे और मनोकामनायें परिपूर्ण होंगी; यह तो हुआ लोभ। सत्य को भूल जाने से, सत्य को छिपाने से, तुरन्त ही आपके बाल-बच्चे मर जायेंगे, धन्य-धान्य का नाश हो जायगा, दामाद पानी में डूब जायगा, यदि राजा किसीको अन्याय से कारागार में ठूँस देगा तो उसकी राजसत्ता नष्ट हो जायगी और उसपर सभी तरह के संकट उमड़ पड़ेंगे; यह हुआ भय।

सत्य का व्रत सबके लिए समान फलप्रद है। सत्य-पालन का धर्म

सभी वर्णों के लिए है, ऐसा बतलाने के लिए इस कथा में ब्राह्मण, राजा, बनिया और ग्वाल तथा लकड़हारे लाये गये हैं और ऐसा मालूम होता है कि ऊपर बतलाये हुए सत्य के तीनों अर्थ सत्यव्रत में अभिप्रेत हैं। साधु और उसका दामाद दोनों अपनी की हुई प्रतिज्ञा को भूल जाते हैं; इसलिए उनपर सत्यदेव का कोप होता है। उसीके परिणाम-स्वरूप राजा चन्द्रकेतु भी इन दोनों से पराङ्मुख होता है। इन दुर्दैवी लोगों की स्त्रियों के हृदय में प्रतिज्ञा-पालन का धर्म-भाव जागृत होते ही तुरन्त चन्द्रकेतु राजा के हृदय में भी न्याय-भाव जागृत होता है। साधु और उसका दामाद चोर-भय से दण्डी बाबा के सम्मुख झूठ बोलते हैं, इसलिए हमारे कथाकार उनके मिथ्या-भाषण के कारण उनके सर्वस्व नाश होजाने का अनुभव दिखलाकर विनाश-भय द्वारा उन्हें सत्यनिष्ठ बनाते हैं। कलावती पति-दर्शन के मोह में पड़कर सत्यनारायण-व्रत के नियम का भङ्ग करती है। तुङ्गध्वज राजा भी अपनी वर्णोच्चता के अभिमान और सत्ता के मद में सत्य का अनादर करता है। इससे कलावती का पति और तुङ्गध्वज का राज्य नष्ट होजाता है, किन्तु उनका वह मोह और वह मद नष्ट हो जाने पर फिरसे उनको अनन्त सौभाग्य प्राप्त हो जाता है। ऐसा बताकर कथाकार लोगों से कहते हैं, कि भाइयो! सच ही बोलो; अपने वचन का भङ्ग मत करो तथा समाज के अथवा नैसर्गिक सर्वव्यापी नियमों का भङ्ग मत करो, उनका उल्लंघन न करो। यदि इस तरह का व्यवहार करोगे तो तुम्हारा ऐहिक और पारलौकिक कल्याण अवश्य होगा। क्योंकि जो सत्य पर चलता है वह—

सर्वान कामानवाप्नोति, प्रेत्य सायुज्य माप्नुयात ।*

इस लोक-काव्य में सत्य को सर्व-संग परित्यागी दण्डी का स्वरूप दिया है, यह बात भी ध्यान में रखने के योग्य है। सत्यपूर्वक चलने से सम्पूर्ण वासनाओं का क्षय होकर मनुष्य में सन्यस्तवृत्ति आ जाती है, और सत्याचरणी मनुष्य में अन्तःस्थ वृत्तियों के और बाह्य समाज के नियमन अथवा दण्डन करने की दण्डी शक्ति आ जाती है, यह कवि ने बड़ी सुन्दरता के साथ सूचित किया है। सत्यनारायण की पूजा में सत्य का स्वरूप और महिमा बतलानेवाले कितने ही श्लोक बड़े उच्च भाव से भरे हुए हैं, उन्हें यहां देकर श्रीसत्यनारायण की यथामति की गई इस उपासना को मै यहाँ समाप्त करता हूँ—

नारायणस्त्वमेवासि सर्वेषां च हृदि स्थितः ।
प्रेरकः प्रेर्यमाणानां त्वया प्रेरित मानसः ॥
त्वदाज्ञां शिरसा धृत्वा भजामि जनपावनम् ।
नानोपासनमार्गाणां भावकृद् भावबोधकः ॥
त्वधिष्ठानमात्रेण, सैव सर्वार्थकारिणी ।
तामेव त्वां पुरस्कृत्य भजामि हितकाम्यया ॥
न मेत्वदन्यस्त्राताऽस्ति, त्वदन्यं नहि दैवतम् ।
त्वदन्यं नहि जानामि, पालकं पुण्यरूपकम् ॥

---

* जीते जी मन की सभी कामनाओं को पा जाता है और मरने पर सायुज्य, मोक्ष पाता है।

नमस्ते देवदेवेश, नमस्ते धरणीधर ।
त्वदन्यः कोऽत्र पापेभ्यस्त्राताऽस्ते जगतीतले ॥*

इस वाञ्छितार्थ फलप्रद श्रीसत्यनारायण-व्रत और कथा के इस रहस्य को जो पढ़ेंगे उन्हींको श्रीसत्यनारायण का कृपा-प्रसाद प्राप्त होगा । यह रहस्य संस्कृत भाषा में नहीं लिखा है, अथवा आधुनिक है, ऐसा समझ कर जो इसका अनादर करेंगे उनका सत्यनारायण-व्रत निष्फल होगा । परन्तु जो कोई ध्यान-मननपूर्वक इसको श्रवण करके सत्यनारायण का व्रत-आचरण करेंगे वे—

यत्कृत्वा सर्व दुःखेभ्यो, मुक्तो भवति मानवः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो, दुर्लभं मोक्षमाप्नुयात ॥

---

* हे नारायण ! आप ही सभी के हृदयों में स्थित हैं, जितने प्रेरक उन सभी के प्रेरक आप हैं, मैं आप ही की प्रेरणा से मन में प्रेरित होकर आपकी आज्ञा को शिरोधार्य करके जन-पावन आपकी उपासना करता हूँ । आप उपासनाओं के अनेक मार्गों के भावों के रचयिता और सभी-के भावों के ज्ञाता और भाव जगानेवाले हैं । आप ही के अधिष्ठान-मात्र से श्रीमती (लक्ष्मीजी) सर्वार्थ-सिद्धि करनेवाली हैं; अतएव मैं उन्हींको आगे करके अपनी हित-बुद्धि से आपका भजन करता हूँ । आपके सिवा और दूसरा कोई मेरा रक्षक नहीं, न आपको छोड़कर और कोई देवता है । आपके सिवा पवित्र और संरक्षक मैं दूसरे को नहीं जानता । हे देवदेवेश और हे धरणीधर ! आपको नमस्कार है । इस भूमण्डल पर आपके सिवा पापों से त्राण करने वाला और कौन है ?

इहसद्यः फलं भुक्त्वा, परत्रे मोक्षमाप्नुयात्।
धनधान्यादिकं तस्य, भवेत् सत्यप्रसादतः॥
दरिद्रो लभते वित्तं बद्धो मुच्येत बन्धनात्।
भीतो भयात् प्रमुच्येत, सत्यमेव न संशयः॥*

कलियुग में हरेक मनुष्य भली और बुरी हर तरह की कामनाओं की सिद्धि के लिए सत्यनारायण-व्रत करने लगा, यह देखकर श्रीमहादेव-जी ने फल-प्राप्ति के मार्ग में एक कीलक (काँटा) और अर्गला (अटव-जंजीर) डाल दिये हैं। जो मनुष्य जितेन्द्रिय और सत्यवादी होगा, वही इनका उत्कीलन करके इस व्रत-फल के द्वार खोल सकेगा।

---

[३]

जन्माष्टमी

(सूर्य प्रति दिन उदय होता है, तथापि प्रतिदिन वह नवीन प्राण, नूतन चैतन्य और अभिनय जीवन ले आता है। सूर्य को

---

* सत्यनारायण का व्रत करके मनुष्य सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है। सब पापों से छूटकर वह दुर्लभ मोक्ष को पा जाता है। इस लोक में तात्कालिक फल भोगकर परलोक में मुक्ति भी पा जाता है। सत्य की कृपा से उस मनुष्य के धन-धान्य भी होते हैं। इस व्रत से दरिद्री धन पा जाता है, बँधुआ बन्धन से छूट जाता है, डरा हुआ मनुष्य डर से बचाव पाता है। इसे सच जानो, इसमें संशय नहीं।

पुराना ही समझकर, पक्षिगण उत्साह-शून्य नहीं होते। कल ही का यह सूर्य आज फिर आया है, यह कहकर द्विजगण भगवान् भास्कर का निरादर नहीं करते। जिस मनुष्य का जीवन शुष्क हो गया है, जिसकी आँखों का तेज चला गया है, जिसके हृदय में रक्त-सञ्चार बन्द हो गया है, उसीके लिए सूर्य पुराना है। जिसमें प्राणों का कुछ भी अंश है उसके लिए तो भगवान सूर्यनारायण नित्य-नूतन हैं। जन्माष्टमी भी प्रतिवर्ष आती है, प्रतिवर्ष हम वही कथा सुनते हैं, ठीक उसी तरह उपवास भी करते हैं, और उसी तरह श्रीकृष्ण-जन्मोत्सव करते हैं। इसी क्रम के अनुसार हज़ारों वर्ष बीत जाने पर भी जन्माष्टमी हर साल हमें उस जगद्गुरु का एक नया ही सन्देश सुनाती रहती है। कृष्ण-पक्ष की अष्टमी के वक्र चन्द्र के समान एक पैर पर भार रखकर एक पैर टेढ़ा रक्खे और देह में कमनीय बाँक रखकर श्री मुरलीधर ने जिस दिन संसार में प्रथम बार प्राण फूँका, उस दिन से आजतक हरेक निराश्रित मनुष्य को आश्वासन मिला कि—

'न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।'

अर्थात्—हे तात ! जिस मनुष्य ने सन्मार्ग ग्रहण किया है, जो धर्म पर दृढ़ है, उसकी कभी दुर्गति नहीं होती।

लोग समझते हैं कि धर्म दुर्बल मनुष्यों के लिए है, अधिक-से-अधिक व्यक्तिगत सम्बन्ध में उसकी उपयोगिता होगी; परन्तु राजा और सम्राट तो जो करें, वही धर्म है। साम्राज्य-शक्ति धर्म से परे है। व्यक्ति का पुण्य क्षय हो जाता होगा, किन्तु साम्राज्य तो अलौकिक वस्तु है। साम्राज्य की विभूति ईश्वरीय विभूति से बढ़कर श्रेष्ठ है। जब

साम्राज्य अपने हाथ में विजय-पताका लेकर घूमता है, तब दिन के चन्द्रमा की तरह ईश्वर भी न जाने कहाँ छिप जाता है।

मथुरा में कंस की ऐसी भावना थी; मगध देश में जरासन्ध भी ऐसा ही समझता था; चेदि देश में शिशुपाल की मनोदशा भी यही थी; जलाशय के निवासी कालियानाग की मान्यता भी यही थी; द्वारकापुरी पर धावा करनेवाले कालयवन का भी यही जीवन-सिद्धान्त था; महापापी नरकासुर को यही शिक्षा मिली थी, और दिल्ली का सम्राट कौरवाधिपति भी इसी वृत्ति में छोटे से बड़ा हुआ था। ये सभी महा-पराक्रमी राजागण अन्धे या अज्ञानी न थे। इनके दरबारों में इतिहास-वेत्ता, अर्थ-शास्त्र-विशारद और राज-कार्य-धुरन्धर अनेक विद्वान थे। वे अपने-अपने शास्त्रों का निचोड़ निकाल-निकालकर अपने-अपने सम्राटों को सुनाते थे। परन्तु जरासन्ध कहता था, 'तुम लोगों के इतिहास के सिद्धान्तों को रक्खा रहने दो, मेरा पुरुषार्थ इसीमें है कि मैं अपने बुद्धि-बल और भुज-बल के द्वारा तुम्हारे सिद्धान्तों को असत्य करदूँ।' कालयवन कहता, कि 'मैं एक ही अर्थ-शास्त्र जानता हूँ—दूसरे देशों को निचोड़कर उनका धन हरण कर लेना। धनवान होने का यही एकमात्र सीधा-सहल अतएव सशास्त्र मार्ग है।' शिशुपाल कहता, 'न्याय और अन्याय की बात तो प्रजाजनों के भीतरी झगड़ों में हो सकती है। हम तो ठहरे सम्राट। हमारी जाति ही भिन्न। प्रतिष्ठा और वैभव, यही हमारा धर्म है।' कौरवनाथ कहते, 'संसार में जितने रत्न हैं, वे सब हमारी पैतृक सम्पत्ति हैं। वे सब हमें मिलने चाहिएँ (यतो रत्नभुजो वयम्); क्योंकि हम रत्नभोगी हैं, रत्नोपभोग करने के लिए ही उत्पन्न हुए हैं।

संसार-भर में जितने तालाब हैं, वे सब हमारे ही विहार के लिए हैं। हम युद्ध किये बिना किसीको सुई की नोक के बराबर भी भूमि न देंगे।'

पक्षपात-शून्य नारद मुनि ने कंस को सावधान कर दिया था, कि 'विदेशी शत्रु के मुकाबिले में भले ही तेरी चली हो, किन्तु तेरे साम्राज्य के भीतर—अरे! तेरे घर के भीतर ही—तेरा शत्रु उत्पन्न होगा। तूने जिस सगी बहन को आश्रित दासी के समान रख छोड़ा है, उसीके पुत्र के हाथों तेरा नाश होगा, क्योंकि वह धर्मात्मा होगा। तू उसके तेजोभंग के लिए जितने प्रयत्न करेगा, वे सभी उसके लिए अनुकूल हो जायँगे। कंस ने मन में सोचा, '(Forewarned in Forearmed.) मुझे यथा-समय इतनी चेतावनी मिल गई, अब यदि मैं पानी फूटने के पहले ही पाल न बाँध लूँ तो मैं इतिहासज्ञ ही क्या? सम्राट ही कैसा?' नारद ने कहा, 'यह तेरी विनाश-काल की विपरीत बुद्धि है। मैं जो-कुछ कह रहा हूँ वह इतिहास का नहीं, धर्म का सिद्धान्त है, सनातन सत्य है। वसुदेव और देवकी के आठ सन्तानो में से एक के हाथो तू अवश्य मरेगा। तेरे लिए एक ही उपाय है। अब भी पश्चात्ताप कर और श्रीहरि की शरण में जा।' अभिमानी कंस ने तिरस्कारयुक्त हास्य के साथ उत्तर दिया, 'सम्राट समर-भूमि में पराजित हुए बिना पश्चात्ताप नहीं करते।' निराश हो 'तथास्तु' कहकर नारद चले गये। कंस ने सोचा, 'अबतक जो सम्राट सफल न हुए, इसका कारण है उनकी असावधानता; उन्हें पूरी तरह सावधान रहने का ज्ञान न था। यदि मैं भी ग़ाफ़िल रहा तो मुझे भी पराजय स्वीकार करनी पड़ेगी। पर इसका कुछ अन्देशा नहीं। वीर

पुरुष तो सदा विजय का प्रयत्न करता है, किन्तु पराजय के लिए तैयार रहता है। हार जाना बुरा नहीं, किन्तु धर्म के नाम पर वशीभूत हो जाने में अपकीर्ति है। धर्म का साम्राज्य साधु-सन्त, वैरागी और देव-ब्राह्मणों को मुबारक हो। मैं तो ठहरा सम्राट। मैं तो एक शक्ति को ही पहचानता हूँ।'

कंस ने क्रूर होकर वसुदेव के सात निरपराध बालकों का वध किया। कृष्ण-जन्म के समय ईश्वरी लीला चली और श्रीकृष्ण भगवान की जगह कन्या-देहधारी शक्ति कंस के हाथ लगी। उसे कंस ने ज़मीन पर पछाड़ा; परन्तु शक्ति से शक्ति कहीं थोड़े ही मर सकती थी। वसुदेव ने श्रीकृष्ण को गुप्त रूप से गोकुल में रक्खा; किन्तु ईश्वर को कोई वस्तु गुप्त रखना स्वीकार न था। ईश्वर को प्रसिद्ध होजाने का कौनसा भय (Sin of secrecy) था? शक्ति ने अट्टहास करके भौंचक कंस से कहा, 'तेरा शत्रु तो गोकुलमें दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ रहा है।' मथुरा से गोकुल-वृन्दावन बहुत दूर नहीं है, चार-पाँच कोस भी नहीं। कंस ने श्रीकृष्ण को मार डालने के लिए जितने हो सके प्रयत्न किये। किन्तु वह यह जान ही न सका कि श्रीकृष्ण का मरण किस तरह है! श्रीकृष्ण अमर तो थे ही नहीं, साथ ही मरणाधीन भी न थे। वह धर्म-कृत्य करने को आये थे। जबतक धर्म का राज्य न हो जाय तबतक वह विराम कब पा सकते थे? कंस ने सोचा कि श्रीकृष्ण को अपने दरबार में बुलवा लूँ और वहीं उनका वध करवा डालूँ; किन्तु उसकी बाज़ी वहीं बिगड़ी, क्योंकि प्रजा ने परमात्म-तत्त्व को पहचाना और वह परमात्मा के अनुकूल हो गई।

[कंस का नाश देखकर जरासंध को सचेत हो जाना चाहिए था। किन्तु उसने सोचा, 'नहीं, मैं कंस से बढ़कर सावधान हूँ; मैंने अनेक भिन्न-भिन्न अवयव जोड़कर अपने साम्राज्य को प्रबल किया है; मल्लयुद्ध में मेरा समकक्ष कौन है? मेरे नगर का कोट दुर्भेद्य है, मुझे किस बातका डर?' फलतः जरासन्ध की भी दो फाँक हुई। कालियानाग तो अपने जल-स्थान को सुरक्षितता का नमूना ही मानता था। उसका विष असह्य था। वह फुंकार मात्र से बड़ी-बड़ी सेनाओं का संहार कर देता था। उसके उस महाविष की भी कुछ न चली। कालयवन ने चढ़ाई अवश्य की, किन्तु वह मुचकुन्द की क्रोधाग्नि से बीच में ही जलकर भस्म हो गया। नरकासुर एक स्त्री के हाथ से भस्म हुआ, कौरवाधिपति दुर्योधन द्रौपदी की क्रोधाग्नि में भस्म हुआ, और शिशुपाल को उसकी की हुई भगवन्निन्दा ने ही मार डाला।]

षड्रिपु जैसे छः सम्राट् उस समय मर गये, सप्तलोक और सप्त-पाताल सुखी हुए, और जन्माष्टमी सफल हुई। फिर भी हम हर साल इसी समय इस उत्सव को क्यों मनाते हैं? इसलिए कि अब भी हमारे हृदय से षड्रिपु का नाश नहीं हुआ है; वे हमें बहुत सताते हैं और हम लगभग निराश हो जाते हैं। ऐसे प्रसंग में हमारे हृदय में कृष्णचन्द्र का जन्म होना चाहिए। 'जहाँ पाप है, वहां पापपुंज-हारी भी हैं'— इस आश्वासन का उदय हमारे हृदय में होना चाहिए। मध्यरात्री के घोर अन्धकार में कृष्णचन्द्र का उदय हो, तभी निराश संसार आश्वासन पा सकता है और धर्म में दृढ़ रह सकता है।

———

[४]

नवरात्र

महिषासुर साम्राज्यवादी था। सूर्य, इन्द्र, अग्नि, पवन, चन्द्र, यम और वरुण आदि सभी देवताओं का अधिकार वह स्वयं ही चलाता था। उसने स्वर्गीय देवताओं को भूलोक की प्रजा बना दिया था। कोई भी अपने स्थान में अपने को सकुशल नहीं मानता था। देवगण परमात्मा की शरण में गये और सृष्टि की व्यवस्था को महिषासुर ने कितना अस्त-व्यस्त कर डाला है यह सब उन्होंने परमात्मा को कह सुनाया। पूरा वृत्तान्त सुन लेने पर विष्णु, ब्रह्मा और शंकर आदि सभी देवताओं के शरीरों से पुण्य-प्रकोप प्रकट हुआ और उसकी एक दैवी शक्ति-मूर्ति निर्माण हुई।

इस सर्व-देवमयी शक्ति को देवताओं ने अपने-अपने आयुध देकर मण्डित किया। इसके बाद देवताओं की दैवी-शक्ति और महिषासुर की आसुरी-शक्ति के बीच भयंकर युद्ध ठना। कौन कह सकता है कि वह युद्ध कितने वर्ष तक होता रहा? किन्तु माना यों जाता है कि यह युद्ध आश्विन शुक्ल प्रतिपदा से दशमी पर्यन्त चलता रहा और उसीके अनुसार दैवी-शक्ति की विजय के उपलक्ष्य में नवरात्र का उत्सव हम लोग मनाते हैं।

दैवी-शक्ति परमाविद्या है, ब्रह्मविद्या है—आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व और शिवतत्त्व का शुद्ध स्वरूप है। यह शक्ति 'शठं प्रति शुभङ्करी'

है। 'अहितेषु साध्वी' है। यह शत्रुओं पर भी दया दरसाती है। दुष्ट लोगों के दुष्ट स्वभाव को शान्त कर देना, यही इस दैवी शक्ति का शील है। 'दुर्वृत्तवृत्तशमनं तव देवि शीलम्।'

इस शक्ति को असुरों ने न समझ पाया। भक्त जब दैवी-शक्ति की जय बोलने लगे, तब आसुर लोग घबराकर चिल्लाने लगे—'अरे! यह क्या?' अन्त में असुरों का राजा स्वयं ही लड़ने लगा। उसने अनेक प्रकार की तरकीबों से काम लिया, अनेक रूप धारण किये, किन्तु अन्त में 'निश्शेषदेवगणशक्तिसमूहमूर्त्ति' की ही विजय हुई। अनुकूल हवा बहने लगी, वर्षा ने पृथ्वी को सुजला और सुफला कर दिया। दिशायें प्रसन्न हुईं और भक्तगण देवी का मङ्गल-गान करने लगे। देवी ने भक्तों को आश्वासन दिया कि 'जब-जब इस तरह की आसुरी वृत्ति से क्लेश बढ़ेगा, तब-तब मैं स्वयं अवतार धारण करके दुष्टता का नाश कर दूँगी।'

यह महिषासुर हरेक मनुष्य के हृदय में अपना साम्राज्य स्थापित करने का बड़ा उद्योग करता है और ऐसे समय दैवी शक्ति को, उसके सभी स्वरूपों को पहचान कर उनका समूलोच्छेदन करना पड़ता है। यह युद्ध हरेक हृदय में कितने वर्षों तक होता रहता है, यह प्रत्येक अपने अन्तःकरण को जांच कर जान सकता है। हमें नवरात्र के दिनों में हृदय में अखण्ड दीप जलाकर उस दैवी-शक्ति की आराधना करनी चाहिए। क्योंकि जब वह प्रसन्न हो जाती है, तब वह दैवी-शक्ति ही हमें मोक्ष दिला देती है।

सैषा प्रसन्ना-वरदा, नृणां भवति मुक्तये।

[५]

विजयादशमी

दशहरे का त्योहार भिन्न-भिन्न समय की भिन्न-भिन्न पुटों से बना है। दशहरे के त्योहार में असंख्य युगो के असख्य प्रकार के आर्य-पुरुषार्थ की विजय ममाविष्ट है।

मनुष्यों का पारस्परिक युद्ध जितना महत्वपूर्ण है, उतना ही अथवा उससे भी अधिक महत्वपूर्ण युद्ध मनुष्य और प्रकृति का है। प्रकृति पर मनुष्य की सबसे बड़ी विजय खेती है। जिस दिन मनुष्य ज़मीन जोत कर, उसमें नव-धान्य बोकर, कृत्रिम जल का सिंचन करके, उससे अपनी आजीविका और भविष्य के संग्रह के लिए आवश्यक अनाज प्राप्त कर सका, वही उसकी बड़ी-से-बड़ी विजय का दिन था। उस दिन की स्मृति को हमेशा ताजा रखना कृषि-प्रधान आर्य लोगों का प्रथम कर्तव्य था।

बीसवीं सदी भौतिक और यान्त्रिक अन्वेषण की सदी मानी जाती है, और यह ठीक भी है। मनुष्य-प्राणी की हस्ती और सस्कृति में जो महान् अन्वेषण कारणीभूत हुए हैं, वे सब आदियुग में ही आविष्कृत हुए हैं। ज़मीन जोतने की कला, सूत कातने की कला, आग सुलगाने की कला, और मिट्टी से पक्का घड़ा बनाने की कला—ये चार कलायें मानवी संस्कृति का आधार-स्तम्भ हैं। इन चारों कलाओं का उपयोग करके विजयादशमी के दिन हमने कृषि-महोत्सव की रचना की है।

विजयादशमी के त्योहार में चातुर्वर्ण्य एकत्र दिखाई देता है। ब्राह्मणों का सरस्वती-पूजन और विद्यारंभ, क्षत्रियों का शस्त्र-पूजन, अश्व-पूजन और सीमोल्लङ्घन, और वैश्यों की खेती—ये तीन बातें इस त्योहार में एकत्र होती हैं। और जहाँ इतना बड़ा काम हो वहाँ शूद्रों की परिचर्या तो समाविष्ट है ही। देहात के लोग नवरात्र के अनाज के सोने-जैसे जवारे तोड़कर पगड़ी में खोंस लेते हैं और बढ़िया पोशाक पहनकर बाजे-गाजे के साथ सीमोल्लङ्घन करने जाते हैं। उस समय ऐसा दृश्य दिखाई देता है, मानों वे सारे देश का पौरुष व पराक्रम दिखाने के लिए बाहर निकल रहे हों।

दशहरे का उत्सव जिस प्रकार कृषि-प्रधान है, उसी प्रकार क्षात्र महोत्सव भी है। जब किराये के सैनिकों को मुरग़ों की तरह लड़ाने का रिवाज न था, तब क्षात्र-तेज और राज-तेज किसानों में ही परिवर्द्धित होता था। किसान का अर्थ है क्षेत्रपति—क्षत्रिय। जो सालभर तक धरती-माता की सेवा करता है, वही प्रसंग पड़ने पर उसकी रक्षा भी करता है। नदी-नाले, पहाड़-पहाड़ी के साथ जिसका रात-दिन संबन्ध रहता है, घोड़े-बैल जैसे पशुओं को जो तालीम दे सकता है, अनेक मज़दूरों को जो आजीविका दे सकता है, और सारे समाज की जो उदर-पूर्ति करता है, उसके अन्दर राजत्व के यदि समस्त गुण वृद्धि पावें तो आश्चर्य की क्या बात है? जो राजा है, वही क़िसान है; और जो किसान है, वही राजा है।

इस अवस्था में कृषि-त्योहार के क्षात्र-त्योहार हो जाने में सोलहों आना ऐतिहासिक औचित्य है। क्षत्रियों का मुख्य कर्त्तव्य है—स्वदेश-

रक्षा। पर कितनी ही बार, इसके पहले कि शत्रु स्वदेश में घुसकर देश की खराबी करे, उसके दुष्ट हेतु का पता पाकर खुद ही सीमोल्लंघन करके—अर्थात् अपनी हद को लांघकर—शत्रु के ही देशमें लड़ाई ले जाना ठीक और वीरोचित होता है।

थोड़ा ही विचार करने से ज्ञात हो जायगा कि इसी सीमोल्लंघन के मूल में आगे साम्राज्य-भाव विद्यमान है। अपनी हद से बढ़कर दूसरे के देश पर क़ब्ज़ा करना, वहाँसे धन-धान्य लूटकर लाना, इसमें धर्म-भाव की अपेक्षा महत्वाकांक्षा का अंश अधिक है। इस प्रकार लूटकर लाये सोने को यदि पराक्रमी पुरुष अपने ही पास रक्खें तो वर्तमान युग के क्षात्र-प्रकोप (Militarism) के साथ वैश्य-प्रकोप (Industrialism) के सम्मिलन की भयंकर स्थिति उत्पन्न हो जाय। प्रभुत्व और धनित्व जहाँ एकत्र हैं, वहाँ शैतान को अलहदा निमंत्रण देने की ज़रूरत नहीं रहती। इसीलिए दशहरे के दिन लूट कर लाया हुआ सोना तमाम स्वजनों में बाँट देना इस दिन की एक महत्वपूर्ण धार्मिक विधी निश्चित की गई है।

सुवर्ण बाँट देने के इस रिवाज का सम्बन्ध रघुवंश के राजा रघु के साथ भी जुड़ा हुआ है।

रघु राजा ने विश्वजित्-यज्ञ किया। समुद्र-वलयांकित पृथ्वी को जीतने के बाद सर्वस्व दान कर देने का नाम विश्वजित्-यज्ञ है। ऐसा विश्वजित्-यज्ञ पूरा कर चुकने के बाद रघु राजा के पास वरतन्तु ऋषि का शिष्य विद्वान् और तेजस्वी कौत्स आया। कौत्स ने अपने गुरु से चौदह विद्यायें ग्रहण की थीं और उसकी दक्षिणा के लिए

चौदह कोटि सुवर्ण-मुद्रा गुरु को देने का संकल्प उसने किया था, परन्तु सर्वस्व-दान कर चुकने के बाद मिट्टी के बरतनों के द्वारा रघु को आदरातिथ्य करता देखकर कौत्स ने उससे कुछ भी याचना करने का विचार छोड़ दिया। राजा को आशीर्वाद देकर वह जाने लगा। तब रघु ने आग्रह-पूर्वक उसे रोक रक्खा और दूसरे दिन स्वर्ग पर चढ़ाई करके इन्द्र और कुबेर से धन लाने की तजवीज़ की। रघु चक्रवर्ती राजा था, इससे इन्द्र और कुबेर भी उसके माण्डलिक थे। ब्राह्मण को दान करने के लिए उनसे कर वसूल करने में संकोच किस बात का? रघु राजा की चढ़ाई की बात सुनकर राजा डर गये—उन्होंने एक शमी के पेड़ पर सुवर्ण-मुद्रा की वृष्टि की। रघु राजा ने सुबह उठकर देखा तो जितना चाहिए उतना सुवर्ण मौजूद है। उसने वह ढेर कौत्स को दे दिया। कौत्स चौदह करोड़ से अधिक लेता नहीं था और राजा दान में दिया धन वापस नहीं चाहता था। अन्त में उसने वह धन नगर-वासियों को लुटा दिया। वह दिन था—आश्विन सुदी १०। इससे आज भी लोग दशहरे के दिन शमी का पूजन करके उसके पत्तों को सोना समझकर लूटते हैं और एक-दूसरे को देते हैं। कितने ही लोग शमी के नीचे की मिट्टी को भी सुवर्ण मानकर ले जाते हैं।

शमी का पूजन बहुत प्राचीन है। ऐसा माना जाता है कि शमी के पेड़ में ऋषियों का तपस्तेज है। प्राचीन समय में शमी की लकड़ी एक-दूसरी पर घिसकर आग सुलगाते थे। शमी की समिधा आहुति के काम आती है। पाण्डव जब अज्ञातवास करने गये थे, तब उन्होंने अपने हथियार एक शमी के पेड़ पर छिपा रक्खे थे; और, इसलिए

कि कोई वहां जाने न पावे, एक नर-कंकाल उस पेड़ में बांध रक्खा था।

राम ने रावण पर जो चढ़ाई की, सो भी विजयादशमी-मुहूर्त्त पर। आर्यलोगों ने—हिन्दू लोगो ने—अनेक बार विजयादशमी के मुहूर्त्त पर चढ़ाई करके विजय प्राप्त की है। इससे विजयादशमी राष्ट्रीय विजय का मुहूर्त्त अथवा त्योहार हो गया हैं। मराठे और राजपूत इसी मुहूर्त्त पर स्वराज्य की सीमा बढ़ाने के लिए शत्रु के देश पर आक्रमण करते थे। शस्त्रास्त्र से सजकर, हाथी-घोड़े पर चढ़कर, नगर के बाहर जलूस ले जाने का रिवाज आज भी है। वहाँ शमी का और अपराजिता देवी का पूजन सीमोल्लंघन का मुख्य भाग है। पुराणों में कथा है कि महिषासुर से श्री जगदम्बा ने नौ दिन युद्ध करके विजयादशमी के दिन उसका वध किया। इसीसे अपराजिता की पूजा और भैंसे का बलिदान करने का रिवाज पड़ा है।

ऐसा माना जाता है कि शमी और अश्मन्तक वृक्ष में भी शत्रु के नाश करने का गुण है। उस्तुरा के पेड़ को अश्मन्तक कहते हैं जहाँ शमी नहीं मिलती, वहाँ उस्तुरे के पेड़ की पूजा होती हैं। उस्तुरे के पत्ते का आकार सोने के सिक्के की तरह गोल होता है और जुड़े हुए कार्ड (Reply Card) की तरह उसके पत्ते मुड़े हुए होते हैं, जिससे वे खूबसूरत दिखाई देते हैं।

दशहरे के दिनों तक चौमासा लगभग ख़त्म हो जाता है। शिवाजी के किसान सैनिक दशहरे तक खेती की चिन्ता से मुक्त हो जाते थे। कुछ काम बाक़ी न रहता था। सिर्फ़ एक ही फ़सल काटना बाक़ी रहता

था। पर उसे तो घर की औरतें, बच्चे और बूढ़े लोग कर सकते थे। इससे सेना इकट्ठी करके स्वराज्य की हद बढ़ाने के लिए सबसे नज़दीक मुहूर्त दशहरे का था। इसी कारण महाराष्ट्र में दशहरे का त्योहार अत्यन्त लोक-प्रिय था और आज भी है।

हम देख चुके हैं कि विजयादशमी के एक त्योहार पर अनेक संस्कारों, अनेक संस्करणों और अनेक विश्वासों की तह चढ़ी हुई है। कृषि-महोत्सव क्षात्र-महोत्सव हो गया। सीमोल्लंघन का परिणाम दिग्विजय तक पहुँचा। स्व-संरक्षण के साथ सामाजिक प्रेम और धन का विभाग करने की प्रवृत्ति का सम्बन्ध दशहरे के साथ जुड़ा। परन्तु एक ऐतिहासिक घटना को अभी हम दशहरे के साथ जोड़ना भूल गये है, जो इस ज़माने में अधिक महत्वपूर्ण है। "दिग्विजय से धर्मजय श्रेष्ठ है। बाह्य शत्रु का वध करने की बनिस्वत हृदयस्थ षड्रिपुओं को मारने में ही महान् पुरुषार्थ है। नवधान्य की फसल काटने की अपेक्षा पुण्य की फ़सल काटना अधिक चिरस्थायी होता है।"—यह उपदेश सारे ससार को देने वाले मारजित्, लोकजित् भगवान बुद्ध का जन्म विजयादशमी के शुभ मुहूर्त में ही हुआ था। विजयादशमी के दिन बुद्ध भगवान का जन्म हुआ और वैशाखी पूर्णिमा के दिन उन्हें शान्तिदायी चार आर्य तत्त्वों और अष्टांगिक मार्ग का बोध हुआ, यह बात हम भूल ही गये हैं। विष्णु का वर्तमान अवतार बुद्ध-अवतार ही है। इसलिए विजयदशमी का त्योहार भगवान बुद्ध के मार-विजय को स्मरण करके ही हमें मनाना चाहिए।

— — —

[६]

बलि का राज्य

बलि राजा ने दान का नियम लिया था। जो याचक जो वस्तु मांगता था, बलि राजा उसे वही वस्तु दे देता था। बलि के राज्य में जीवहिंसा, मद्यपान, अगम्यागमन, चोरी और विश्वासघात—इन पाँच महापापों का नाम भी कहीं न था। सर्वत्र दया, दान और उत्सव की चहल-पहल थी। अन्त में बलि राजा ने वामन-मूर्ति श्रीकृष्ण को सर्वस्व अर्पण किया। बलि की दान-वीरता के स्मारक के तौर पर श्रीविष्णु ने बलि के नाम से तीन दिन-रात का त्योहार निश्चित किया। यही हमारी दिवाली है। बलि के राज्य में आलस्य, मलिनता, रोग और दारिद्रय का अभाव था। बलि राजा के राज्य में अथवा लोगों के हृदय में अन्धकार न था। सभी प्रेम से रहते थे। द्वेष, मत्सर या असूया का कारण ही न था। बलि का राज्य जन-साधारण के लिए इतना लोकोपकारी था कि जिसके कारण प्रत्यक्ष श्रीविष्णु उसके द्वारपाल बन कर रहे। इसी कारण यह निश्चित किया गया कि बलि राजा के स्मारक में इस त्योहार के पहले कीच-मिट्टी और गन्दगी निकाल डाली जाय। जहाँ अन्धेरा हो, उस स्थान को दीपावली से शोभित तथा प्रकाशित कर दिया जाय। निश्चित किया गया कि लोगों के प्राणहारक यमराज का तर्पण करें, पूर्वजों का स्मरण करें, मिष्टान्न

भक्षण करें, सुगन्धित धूप-दीप तथा पुष्प-पत्रों से सुन्दरता बढ़ावें। इन दिनों में सायंकाल की शोभा इतनी मनोहारिणी होती है कि यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, औषधि*, पिशाच, मन्त्र और मणि— ये सभी उत्सव का नृत्य करते हैं। लोग बलि राजा का स्मरण करके चित्र-विचित्र रङ्गों से चौक पूरते हैं। सफेद चावल के तरह-तरह के सुन्दर चित्र बनाते हैं। गाय और बैल आदि गृह-पशुओं को सजाकर उनका जलूस निकालते हैं। छोटे और बड़े सब हिलमिलकर आपस में यष्टिका-कर्षण खेलते हैं। यह यूरोपियन लोगों की 'टग आफ़ वार' के जैसा एक खेल है। इसीको हम लोगों ने एक नया नाम गजग्राह दे दिया है। प्राचीन काल में दिवाली के दिन राजा लोग अपनी राजधानी के सभी लड़कों को सार्वजनिक आमन्त्रण देते और उन्हें खेल खिलाते थे।

सुगन्धित द्रव्यों की मालिश करके स्नान करना, तरह-तरह के दीपकों की पंक्तियाँ बाँधना और इष्ट-मित्रों के साथ मिष्टान्न भोजन करना दिवाली का मुख्य भाग है। यदि बलि-राज्य में प्रवेश करना हो तो द्वेष, मत्सर, ईर्ष्या और अपमान आदि सभी भूलकर सभीके साथ एकचित्त हो जाना परमावश्यक है। इस तरह निष्पाप होकर नये वर्ष में प्रवेश करना हमारी पुरानी प्रथा है।

---

* जङ्गली जड़ी-बूटियाँ दिवाली की रात में अपना-अपना प्रभाव पाती हैं।

आज के दिन सत्यभामा ने श्रीकृष्ण की सहायता से नरकासुर का नाश करके सोलह हज़ार राजकन्याओं को मुक्त किया था। दीपावली के उत्सव में स्त्रियो की उपेक्षा नहीं की गई है। स्त्री-पुरुष के सभी सम्बन्धों में भाई बहन का सम्बन्ध शुद्ध-सात्विक प्रेम और समानता के उल्लास का सम्बन्ध होता है। इतना व्यापक और इतना उल्लासयुक्त प्रेम पति-पत्नी और माता-पुत्र का नहीं होता।

धनतेरस से भैयादूज तक के पाँचों दिनों के साथ यमराज का नाम जुड़ा हुआ है। इसका क्या उद्देश होगा? इन्द्रप्रस्थ का राजा हंस मृगया के लिए पर्यटन कर रहा था। हैम नामक एक छोटे राजा ने उसका आतिथ्य किया। उसी दिन राजा हैम के घर पुत्रोत्सव था। राजा आनन्द मना ही रहा था, इतने में भवितव्यता ने आकर कहा, कि विवाह हो जाने पर चौथे दिन यह पुत्र सर्प-दंश से मर जायगा। हंस राजा ने उसके पुत्र को बचाने का निश्चय किया। यमुनाजी के एक डोह में एक सुरक्षित घर बनवाकर हैम राजा को उसमें रहने के लिए उसने कहा। सोलह वर्ष के बाद राजपुत्र का विवाह हुआ। विवाह से ठीक चौथे ही दिन ऐसे दुर्गम स्थान में भी सर्प प्रकट हुआ और राजपुत्र मर गया। आनन्द की घड़ी अपार शोकमय हो गई। इस करुण प्रसंग में क्रूर यमदूतों को भी दया आई और उन्होंने यमराज से यह वर माँग लिया कि जो कोई मनुष्य दिवाली के पाँच दिन तक दीपोत्सव करे उसपर ऐसा शोकमय प्रसंग न आवे।

यह तो धनतेरस की बात हुई। नरक-चतुर्दशी के दिन तो भीष्म और यमराज के तर्पण का विशेष रूप से विधान बताया गया है। दीपावली तो अमावस्या का दिन; उस दिन तो यमलोक-निवासी पितरों का पूजन और पार्वण श्राद्ध करना ही होता है। प्रतिपदा के लिए यमराज की कोई कथा नहीं मिलती; किन्तु ऐसा मान लेने में बाधा नहीं कि यमराज भी उस दिन अपनी नई बही आरंभ करते होंगे। भैयादूज के दिन यमराज अपनी बहन यमुना के यहाँ भोजन करने जाते हैं। दिवाली की स्वच्छन्दता के साथ यमराज का स्मरण रखने में उत्सवकारों का जो कुछ उद्देश रहा हो, किन्तु उसका प्रभाव बहुत ही अच्छा पड़ता होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। जिन्होंने उत्सव में भी संयम रक्खा होगा वही यमराज के पाशों से मुक्त रह सकेंगे।

---

[७]

दिवाली

प्रत्येक घर के दीवानखाने में कोई-न-कोई सुन्दर वस्तु रखने का रिवाज होता है। यदि बाहर का कोई आदमी आवे और स्वभावतः ही उसकी नज़र उसपर पड़ जाय, तो उसके मुँह से निकल उठता है—"कैसी बढ़िया चीज है! तुमने कहां से पाई?" किन्तु अजायबघर में तो जहाँ देखिए वहां सुन्दर-ही-सुन्दर वस्तुयें दिखाई देती हैं। उन्हें देखकर मनुष्य बड़ा खुश होता है। लेकिन साथ ही साथ वह

उतना ही पशोपेश में भी पड़ जाता है। वह इसी सोच में रहता है कि क्या देखूँ और क्या न देखूँ ?

दिवाली त्योहारों का एक ऐसा ही अजायबघर है। इसे सब त्योहारों का स्नेह-सम्मेलन माना जाय तो भी अनुचित न होगा। दिवाली का त्योहार पाँच दिन का माना जाता है। लेकिन सच पूछिए तो ठेठ नवरात्र के त्योहार से इसकी शुरुआत होती है और यम-द्वितीया की भाई-दूज की भेंट में इसके आनन्द की परिसमाप्ति होती है।

धर्म शास्त्र में प्रत्येक त्योहार का माहात्म्य और कथा दी हुई होती है। दिवाली के सम्बन्ध में इतनी अधिक कथायें हैं कि उन्हें लिखने बैठें तो एक बड़ा पोथा हो जाय। धन-तेरस की कथा जुदी, नरक-चौदस की जुदी, और उसमें अमावस (दिवाली) की तो एक ख़ास कथा है। उसके बाद विक्रम का नया वर्ष शुरू होता है और द्वितीया के रोज़ बहन के घर भाई अतिथि होता है। दिवाली गृस्थाश्रमियों का त्योहार है। जन-समाज का त्योहार है। श्रावणी के दिन धर्म और शास्त्रों की प्रधानता रहती है, दशहरे के दिन युद्ध और शस्त्रों का प्राधान्य रहता है, और होली खेल तथा रंग-राग का त्योहार है। जैसे मनुष्यों के चार वर्ण हैं वैसे ही त्योहारों के भी चार वर्ण हो गये हैं।

पुरातन काल में लोग श्रावणी के रोज़ जहाज़ों में बैठकर समुद्र-पार देश-देशान्तर में सफर करने जाते थे, दशहरे के दिन राजा-लोग और योद्धागण अपनी सरहद पार करके शत्रु पर चढ़ाई करने जाते थे, और दिवाली के दिन राजा और व्यापारीगण स्वदेश में वापस आते और कौटुम्बिक सुख का उपभोग करते थे।

पुराणों में कथा है कि नरकासुर नाम का एक पराक्रमी राजा प्राग्ज्योतिष में राज्य करता था। भूटान के दक्षिण तरफ़ जो मुल्क है उसे प्राग्ज्योतिष कहते थे। नरकासुर दूसरे राजाओं से लड़ता था, यह तो घड़ीभर सहन कर लिया जा सकता था; किन्तु उस दुष्ट ने तो स्त्रियों को भी सताना शुरू किया। सोलह हज़ार राजकन्यायें उसके कारागार में थीं! श्रीकृष्ण ने विचार किया कि यह स्थिति हमारे लिए कलंक-रूप है, अब नरकासुर का नाश करना ही होगा। सत्यभामा ने कहा—"आप स्त्रियों के उद्धार के लिए जाते हैं, तो फिर मैं घर रह सकती हूँ! नरकासुर के साथ मैं ही लड़ूँगी, आप मेरी मदद में भले ही रहें।"

श्रीकृष्ण ने यह बात क़बूल की। सत्यभामा रथ में आगे बैठी थीं; श्रीकृष्ण मदद के लिए पीछे बैठे थे। नरकासुर का नाश चतुर्दशी के दिन हुआ। देश स्वच्छ हो गया। लोगों ने आनन्द मनाया। नरकासुर का बड़ा भारी ज़ुल्म दूर हुआ, यह दिखाने के लिए लोगों ने रात को दीपोत्सव मनाया और अमावस के दिन भी पूर्णिमा की शोभा दिखलाई।

लेकिन यह नरकासुर एक बार मारने से मरता नहीं है। उसे तो हर साल मारना पड़ता है। चौमासे में सब जगह कीच हो जाती है। उसमें पेड़ की पत्तियाँ, गोबर और कीड़े वग़ैरा पड़ जाते हैं और इस तरह गाँव के आस-पास नरक—गन्दगी—हो जाता है। वर्षा के बाद भादों की धूप पड़ती है और इस नरक की दुर्गन्ध हवा में फैलती है। इससे लोग बीमार पड़ते हैं। बहादुर लोग कुदाली, फावड़ा वगैरा लेकर इस नरक के साथ लड़ने जाते, गांव के आसपास के नरक का नाश करते और घर आकर बदन पर तेल मल कर नहाते हैं। गोशाला तो

साफ़ की हुई होती ही है; उसमें से मच्छरों को निकाल देने के लिए रात को उसमें दिया जलाते और फिर प्रसन्न होकर मिष्टान्नों और पक्वानों का भोजन करते हैं।

दिवाली के बाद नया वर्ष शुरू होता है और घर में नया अनाज आता है। हिन्दुओं के घरों में वेद-काल से लेकर आजतक यह नवान्न की विधि बहुत श्रद्धा-पूर्वक की जाती है। महाराष्ट्र में भोजन से पहले एक कड़वे फल का रस चखने की प्रथा है। इसका उद्देश यह होगा कि बिना कड़वी मेहनत के किये मिष्टान्न नहीं मिल सकता। भगवद्गीता में भी लिखा है कि आरम्भ में जो ज़हर के समान है और अन्त में अमृत के समान, वही सात्विक सुख है। गोवा में दिवाली को चिउड़ा का मिष्टान्न बनाते हैं और जितने भी इष्टमित्र हों, उन सबको उस दिन निमंत्रण देते हैं। अर्थात् प्रत्येक जन को अपने प्रत्येक इष्टमित्र के यहाँ जाना ही पड़ता है। सबके यहां फलाहार रक्खा रहता है,उसमें से एक-एक टुकडा खाकर वे दूसरे के घर जाते हैं। चाहे उनके व्यवहार में कटुता आई हो, दुश्मनी बँधी हो, या जो कुछ भी हुआ हो, लेकिन वे दिवाली के दिन मन से सब निकाल देते हैं और नया प्रीति-सम्बन्ध जोड़ते हैं। जिस प्रकार व्यापारी दिवाली पर सब लेन-देन चुका देता है और नये बहीखातों में बाक़ी नहीं खींचता, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य हृदय में कुछ भी ज़हर या बैर बाक़ी नहीं रहने देता। जिस दिन बस्ती में से नरक-गंदगी निकल जाय, हृदय में से पाप निकल जाय, रात्रि में से अन्धकार निकल जाय, और सिर पर से कर्ज़ दूर हो जाय, उस दिन से बढ़कर दूसरा पवित्र दिन कौन हो सकता है?

[८]

वसन्त-पञ्चमी

वसन्त-पञ्चमी क्या है ? ऋतुराज का स्वागत।

माघ शुक्ल पंचमी को हम वसन्त-पञ्चमी कहते हैं। परन्तु वसन्त-पञ्चमी हर शख्स के लिए उसी दिन नहीं होती। ठण्डे खूनवाले आदमी के लिए वसन्त-पञ्चमी इतनी जल्दी नहीं आती।

वसन्त-पञ्चमी प्रकृति का यौवन है। वह मनुष्य वसन्त-पञ्चमी के आगमन का अनुभव बिना ही कहे करता है, जिसका रहन-सहन प्रकृति के प्रतिकूल न हो—जो कुदरत के रंग में रँग गया हो। नदी के क्षीण प्रवाह में एकाएक आई हुई बाढ़ को हम जिस प्रकार अपनी आँखों से देखते हैं, उसी प्रकार हम वसन्त को भी आता हुआ देख सकते हैं। हाँ, अलबत्ते वह एक ही समय सबके हृदय में प्रवेश नहीं करता।

वसन्त जब आता है, तब यौवन के उन्माद के साथ आता है। यौवन में सुन्दरता होती है; पर यह नहीं कह सकते कि उसमें क्षेम भी हमेशा होता है। यौवन की तरह वसन्त में भी शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा करना कठिन हो जाता है। तारुण्य की तरह वसन्त भी लहरी और चंचल होता है। कभी जाड़ा मालूम होता है, कभी गरमी; कभी जी ऊबने लगता है, कभी उल्लास मालूम होने लगता है। जाड़े में खोई हुई शक्ति फिर प्राप्त की जाती है, परन्तु जाड़े में प्राप्त की हुई शक्ति को वसन्त में संचित कर रखना आसान नहीं है। वसन्त में

यदि संयम के साथ रहा जा सके तो सारे वर्ष भर के लिए आरोग्य की रक्षा हो जाती है। वसन्त में प्राणिमात्र पर एक चित्ताकर्षक कान्ति छा जाती है; पर वह वैसी ही खतरनाक भी होती है।

वसन्त के उल्लास में संयम की बात, संयम की भाषा, शोभा नहीं देती, सहन नहीं होती; परन्तु उसी समय उसकी अत्यन्त आवश्यकता होती है। क्षीण मनुष्य यदि पथ्य के साथ रहे तो इसमें कौन आश्चर्य की बात है? इससे क्या लाभ है? नाममात्र के जीवन में क्या स्वारस्य है? जीवन का आनन्द तो है सुरक्षित वसन्त।

वसन्त उड़ाऊ होता है। इस बात में भी प्रकृति का तारुण्य ही प्रकट होता है। फूल और फल कितने ही लगते हैं और कितने ही मुरझा जाते हैं, मानों प्रकृति जाड़े की कंजूसी का बदला देती है। वसन्त की समृद्धि चिरस्थायी समृद्धि नहीं। जो कुछ दिखाई पड़ता है वह स्थिर नहीं रहता।

राष्ट्र का वसन्त भी बहुत बार उड़ाऊ होता है। कितने ही फूल और फल बड़ी-बड़ी आशायें दिखाते हैं; परन्तु परिपक्व होने के पहले ही मुरझाकर गिर पड़ते हैं। सच्चे वही हैं, जो शरद ऋतुतक क़ायम रहते हैं। राष्ट्र के वसन्त में संयम की वाणी अप्रिय मालूम होती है, परन्तु वही पथ्यकर है।

उत्सव में विनय, समृद्धि में स्थिरता, यौवन में संयम—यही सफल जीवन का रहस्य है। फूलों की सार्थकता इसी बात में है कि उनका दर्प फल के रस के रूप में परिणत हो।

वसन्त-पंचमी के उत्सव की सृष्टि शास्त्रकारों के द्वारा नहीं हुई,

और न धर्माचार्यों ने उसे मान्य ही किया है। उसे तो कवियों और गायकों ने, तरुणों और रसिकों ने जन्म दिया है। कोयल ने उसे निमन्त्रण दिया है और फूलों ने उसका स्वागत किया है। वसन्त क्या है? पक्षियों का गान, आम्र-मञ्जरियों की सुगन्ध, शुभ्र अभ्रों की विविधता और पवन की चञ्चलता। पवन तो हमेशा ही चञ्चल होता है; परन्तु वसन्त में वह विशेष भाव से क्रीड़ा करता है। जहाँ जाता है, वहाँ पूरे जोश-ख़रोश के साथ जाता है; जहां बहता है, वहां पूरे वेग से बहता है; जब गाता है, तब पूरी शक्ति के साथ गाता है और थोड़ी ही देर में घूम भी जाता है।

वसन्त से सङ्गीत का नवीन सूत्र शुरू होता है। गायक आठों पहर वसन्त के आलाप ले सकते हैं। न तो देखते हैं पूर्वरात्र, और न देखते हैं उत्तररात्र।

सङ्गीत का प्रवाह तभी चलता है, जब संयम, औचित्य और रस तीनों का संयोग होता है। जीवन में भी अकेला संयम स्मशानवत् हो जाता है, अकेला औचित्य दम्भ-रूप हो जाता है, अकेला रस क्षणजीवी विलासिता में लीन हो जाता है। इन तीनों का संयोग ही जीवन है। वसन्त में प्रकृति हमें रस की धारा प्रदान करती है। संयम और औचित्य-रूपी हमारी अपनी सम्पत्ति हमें उसमें जोड़नी चाहिए।

———— —

[१]

हरिणों का स्मरण

एक विशाल बन था। बीस-बीस तीस-तीस कोस तक मनुष्य की झोंपड़ी या मुसाफ़िरों के कामचलाऊ चूल्हों तक का पता न था। उसमें एक रमणीय तालाब के पास कितने ही हरिण रहते थे। तालाब के किनारे बेल का एक पेड़ था। इस पेड़ के नीचे पाषाण-रूप में महादेव विराजमान थे। हरिण रोज़ तालाब में नहाते, महादेव के दर्शन करते और चरने जाते। दोपहर को आकर बेल के पेड़ के नीचे विश्राम करते। शाम को तालाब का पानी पीते, महादेव के दर्शन करते और सो जाते। बिना किसी शास्त्र के पढ़े ही हरिणों को धर्म का ज्ञान हुआ था। इसीसे वे बड़े ही सन्तोषपूर्वक अपना निर्दोष जीवन व्यतीत करते थे।

फाल्गुन मास था। कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के दिन की बात है। एक विकराल व्याधा उस बन में घुसा। शाम हुआ ही चाहती थी। व्याधा बहुत ही भूखा था। व्याधों की भूख ऐसी-वैसी नहीं होती। यदि और कुछ न मिले तो वे कच्चा मांस ही खाने बैठ जाते हैं। परन्तु हमारे इस व्याधे को अपनी भूख का दुःख न था। 'घर में बाल-बच्चे भूखे हैं, उन्हें क्या खिलाऊँगा? कौन सा मुँह लेकर घर जाऊँ? यदि शिकार न मिले तो खाली हाथ लेकर घर जाने की अपेक्षा बन में ही रात भर

पड़ा रहूँ—शायद कुछ हाथ लग जाय।' यह विचार करके वह तालाब के किनारे उस बिल्वपत्र के पेड़ पर चढ़कर बैठ गया।

'अपने बाल-बच्चों के भरण पोषण के लिए स्वयं बहुत कष्ट उठाना और खतरे में पड़ जाना'—इतना ही वह अपना धर्म समझता था। इससे अधिक व्यापक धर्म का ज्ञान उसे न था।

रात हुई। कृष्णपक्ष की घोर अँधेरी काली रात। कुछ दिखाई नहीं पड़ता था। व्याधे ने तालाब की ओर देखने में रुकावट डालनेवाले बिल्वपत्तों को तोड़कर नीचे गिरा दिया। इतने ही में दो चार हरिण वहाँ पानी पीने आये। पेड़ पर चढ़े व्याधे को देखकर वे चौंके और निराशा के स्वर में बोले—"ओ व्याध! अपने धनुष पर बाण न चढ़ा। हम मरने को तो तैयार हैं; पर हमें इतना अवसर दे कि हम घर जाकर अपने बाल-बच्चों और सगे-सम्बन्धियों से मिल आवें। सूर्योदय के पहले ही हम तेरे पास हाज़िर हो जायँगे।"

व्याधा खिलखिला कर हँसा—"क्या तुम मुझे बुद्धू समझते हो? हाथ आये शिकार को मैं छोड़ दूँ? मेरे बाल-बच्चे जो भूखे तड़प रहे हैं?"

"हम भी तेरी तरह बाल-बच्चों का ही खयाल करके इतनी छुट्टी चाह रहे हैं। तू आज़मा तो, कि हम अपने वचन का पालन करते हैं या नहीं?"

व्याधा के मन में श्रद्धा और कौतुक जाग उठा। ठीक सूर्योदय के पहले आजाने की ताकीद करके उसने हरिणों को घर जाने दिया और खुद बेल के पत्तों को तोड़ता हुआ रात-भर पेड़ पर जागता रहा।

ठीक सूरज उगने के समय पुनः लौट आने की प्रतिज्ञा हरिणों ने की थी। अतः वे अपने घर गये, बाल-बच्चों से मिल, अपने सींगों से एक-दूसरे को खुजलाया, नन्हे बच्चों को प्रेम से चाटा, व्याध की कथा उन्हें कह सुनाई, और विदा माँगी। "शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्। अरे, दुष्ट व्याधे को दिये वचन का क्यों पालन करना चाहिए? अपने शरीर का तमाम बल लगाकर यहां से चुपचाप भाग चलें।" ऐसी सलाह देनेवाला उनमें कोई न निकला।

सगे-सम्बन्धियों ने कहा—"चलो, हम भी साथ चलते हैं। स्वेच्छा से मृत्यु स्वीकार करने पर मोक्ष मिलता है। आपके अपूर्व आत्म-त्याग को देखकर हम पुनीत होंगे।"

बाल-बच्चे साथ हो लिये, मानों व्याधे की हिंस्रता की परीक्षा करने के लिए निकले हों।

सूर्योदय के पहले ही झुण्ड आ पहुँचा। रातवाले हरिण आगे बढ़े और बोले—"लो भाई, हम वध होने के लिए तैयार हैं।" दूसरे हरिणों ने भी कहा—"हमारा भी शिकार कर ले। अच्छी बात है, अगर इससे तेरे बाल-बच्चों की भूख शान्त होती हो।"

व्याधे की हिंसा-वृत्ति रात्रि की तरह लुप्त होगई। सारे दिन उपवास और सारी रात के जागरण से उसकी चित्त-वृत्ति अन्तर्मुख हो ही गई थी। तिसपर इन प्रतिज्ञा-पालक हरिणो का धर्माचरण देखकर तो वह दंग ही रह गया। उसके हृदय में नवीन प्रकाश हुआ। प्रेम-शौर्य की दीक्षा उसे मिली। वह पेड़ से उतरा और हरिणों की शरण गया। दो पैरवाले मनुष्य ने चार पैरवाले पशुओं को साष्टाँग प्रणाम किया।

आकाश से श्वेत पुष्पों की वृष्टि हुई। कैलाश से एक बड़ा विमान उतरा। व्याधा और हरिण उसमें बैठे और कल्याणकारिणी शिव-रात्रि का माहात्म्य गाते हुए शिवलोक को सिधारे। आज भी वे आकाश में दिव्य-रूप में चमकते हैं।

महाशिवरात्रि का दिन मानों इन धर्मनिष्ठ सत्यव्रत हरिणों के स्मरण का दिन है।

---

[१०]

गुलामों का त्योहार ?

हरएक त्योहार से कुछ-न-कुछ शिक्षा अवश्य ही मिलती है, पर क्या वर्तमान होली से भी कुछ शिक्षा मिल सकती है ! पिछले २०–२५ वर्षों में जिस ढंग से यह त्योहार मनाया गया, उसे देखते हुए तो इसके विषय में किसी प्रकार का उत्साह नहीं हो सकता। प्राचीन इतिहास अथवा पौराणिक कथायें भी इस त्योहार पर अच्छा प्रकाश नहीं डालतीं। फिर भी इतना तो स्वीकार करना ही चाहिए कि होली एक प्राचीनतम त्योहार है। जाड़े के समाप्त होने पर एक भारी होली जलाकर आनन्दोत्सव मनाने का रिवाज प्रत्येक देश में और प्रत्येक युग में जारी है। इस उत्सव में संयम की लगाम ढीली रखकर लोग स्वच्छन्दता का कुछ आस्वादन लेना चाहते हैं।

हिन्दुओं में अकेले मनुष्यों के ही जाति नहीं होती; बल्कि देवताओं, पशु-पक्षियों और त्योहारों तक के जाति होती है। अष्टावशु की जाति वैश्य है, नाग और कबूतर ब्राह्मण होते हैं और तोता बनिया होता है। इसी प्रकार होली का त्योहार शूद्र-जाति का है। क्या इसीलिए होली का कार्यक्रम किसी ज़माने के बिगड़े हुए शूद्रों के द्वारा रचा गया होगा और उनके हक़ों को क़ायम रखने के लिए दूसरे वर्णों ने उसे स्वीकार किया होगा? पुराणों में एक नियम है, कि होली के दिन अछूतों को छूना चाहिए—इसका क्या उद्देश्य होना चाहिए? द्विज लोग संस्कार-युक्त अर्थात् संयमी और शूद्र स्वच्छन्दी हैं, यह मानकर क्या होली में इतनी स्वच्छन्दता रक्खी गई है? होली के दिन राजा-प्रजा एक होकर एक दूसरे पर रंग उड़ाते हैं—क्या इसलिए तो नहीं कि कम-से-कम साल में चार-पांच दिन तो समानता के सिद्धान्त का अनुभव हो?

[होली क्या है? काम-दहन, वैराग्य की साधना। विषय को काव्य का मोहक स्वरूप देने से वह बढ़ता है। उसीको बीभत्स स्वरूप देकर, नङ्गा करके, उसका असली स्वरूप समाज के सामने खड़ा करके, विषय-भोग के प्रति घृणा उत्पन्न करने का हेतु तो इसमें न हो? जाड़े-भर जिसके मोह-पाश में फँसे रहे, उसकी दुर्गति करके, उसे जलाकर पश्चात्ताप की विभूति शरीर पर लपेट वैराग्य धारण करने का उद्देश्य तो इसमें न रहा हो? प्राचीन काल की लिंग-पूजा की बिडम्बना तो इसके द्वारा न की जाती हो?

परन्तु होलिका को वसन्तोत्सव भी कहते हैं। जाड़ा गया, वसन्त का नूतन जीवन वनस्पतियों में भी आगया। इसलिए जाड़े में

तमाम लकड़ियों को एकत्र कर आखिरी बार आग जलाकर ठंड को विदा देने का तो यह उत्सव न हो ? और ढूँढा राक्षसी कौन है ? कहते हैं कि वह नन्हे बच्चों को सताती है। होली के दिन जगह-जगह आग सुलगाकर, शोर-गुल मचाकर वह भगाई जाती है। इसमें क्या कवि-कल्पना या रहस्य होगा ?)

लोगों के अन्दर अश्लीलता तो हई है। वह मिटाये नहीं मिट सकती। "तुष्यतु दुर्जनः" इस न्याय के अनुसार साल में एक दिन देने से कितने ही लोग मानते हैं कि वह हीन वृत्ति सारे वर्षभर क़ाबू में रहती है। यदि यह बात सच हो तो यह भारी भूल है। आग में घी डालने से आग क़ाबू में नहीं रहती। पाप और अग्नि के साथ स्नेह कैसा ? वसन्त का उत्सव ईश्वर-स्मरण-पूर्वक सौम्य रीति से मनाना चाहिए। दिवाली में क्या उत्सव का आनन्द कम होता है ? लकड़ियाँ जलाकर होली करने से ही सच्चा वसन्तोत्सव होता है। यदि यह माना जाय कि होलिका एक राक्षसी थी और उसे जलाने का यह त्योहार है, तो हम उसे चुराकर लाई लकड़ियों से नहीं जला सकते। होलिका राक्षसी प्रह्लाद की निर्वैर पवित्रता से ही जल सकती है।

हमें यह विचार करना चाहिए कि हमारे त्योहार हमारे राष्ट्रीय जीवन और हमारी संस्कृति के प्रतिबिम्ब-रूप हैं या नहीं ? मनुष्य-मात्र उत्सव प्रिय है। परन्तु स्वतन्त्र मनुष्यों का उत्सव जुदा होता है, गुलामों का जुदा। जो स्वतन्त्र होता है, जिसके सिर जवाबदेही होती है, जो अधिकार का उपयोग करता है, उसकी अभिरुचि सादा और प्रतिष्ठित होती है। जो परतन्त्र है, जिसे अपनी ज़िम्मेदारी का ज्ञान नहीं, जिसके

जीवन में महत्वाकांक्षा नहीं रह गई, उसकी रुचि बेढङ्गी और सीमा-रहित होती है। एक ग्रन्थकर्त्ता ने लिखा है कि स्त्रियों को जो तरह-तरह के रंग पसन्द होते हैं और रङ्ग-बिरंगे विचित्र लिबास की ओर उनका मन दौड़ा करता है, उसका कारण है उनकी परवशता। स्त्री यदि स्वाधीन हो जाय, तो उसका पहनावा भी सादा और सफेद हो जायगा। स्त्रियों के सम्बन्ध में यह बात ठीक हो या न हो, परन्तु राष्ट्र पर तो यह ठीक चरितार्थ होती है। जिस ज़माने में राष्ट्र अधिकार-हीन, परतन्त्र, बाल-वृत्ति और गैर-ज़िम्मेदार होगा, उसी ज़माने में मूर्खता-पूर्ण कामों के द्वारा इस त्योहार को मनाने की प्रथा प्रचलित हुई होगी।

रोमन लोगों में सैटर्नेलिया नाम का एक गुलामों का त्योहार था। उस दिन गुलाम अपने मालिक के साथ खाना खाते, आज़ादी से बोलते-चालते और आनन्द मनाते। इतने आनन्द के बाद फिर एक साल तक गुलामी में रहने की हिम्मत उनमें आ जाती थी।

स्वराज्य-वादी लोगों को उचित है कि वे अधिक गम्भीर हों। हमारी योग्यता क्या है, हमारी स्थिति कैसी है, इसका विचार करके उन्हें ऐसा ही जीवन व्यतीत करना चाहिए जो उन्हें शोभा दे सकता हो। यदि वसन्तोत्सव करना हो तो समाज में नवीन जीवन पैदा करके इस त्योहार को मनाना चाहिए। यदि कामदहन करना हो तो ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करके पवित्र होना चाहिए। यदि होलिकोत्सव गुलामों का एकमात्र सांत्वना-साधन हो तो उसे स्वराज्य के खातिर एकबारगी मिटा देना चाहिए। भाषा में से यदि गालियों की पूँजी कम हो जाय तो शोक करने का प्रयोजन नहीं। होली के दिनों को हम शहरों और

गाँवों की सफ़ाई करने में लगा सकते हैं। लड़के मरदानी कसरत करने और खेल खेलने में तथा शराब के दुर्व्यसन में फँसे लोगों के मुहल्लों में जाकर शराबखोरी मिटाने का उपदेश देने में लगा सकते हैं और स्त्रियाँ स्वदेशी के गीत गाते-गाते खादी का प्रचार कर सकती हैं।

प्रत्येक त्योहार का स्वराज्य-संस्करण अवश्य होना चाहिए। क्योंकि स्वराज्य का अर्थ है—आत्म-शुद्धि और नव-जीवन।

———

नवसंकल्प

"अभीतक शिक्षा का मुख्य लक्ष्य रहा—राज्य के संचालन में सरकार को किस तरह सहायता हो; किन्तु अबसे यही उद्देश्य दृष्टि के सम्मुख रहना चाहिए, कि 'स्वराज्य किस तरह शीघ्र मिलेगा।'"

[१]

स्त्रैण शिक्षा

स्त्रियों को अबला कहते हैं। स्त्रियाँ भी इस नाम के धारण करने में कुछ अभिमान मानती हों, ऐसा दीखता है। क्या ईश्वर ने स्त्रियों को अबला ही रहने के लिए उत्पन्न किया होगा? इस प्रश्न का एक ही उत्तर हो सकता है, 'न'। फिर भी लोगों की ओर से—स्त्री और पुरुषों की ओर से 'न' ही उत्तर आवेगा, ऐसा विश्वास कौन दिला सकता है? हम लड़कियों को बचपन से ऐसी ही शिक्षा देते हैं कि पुरुष तो पुरुष और औरतें तो औरतें ही। स्त्रियाँ स्वतन्त्र रह ही नहीं सकतीं। अनाथ और विधवा स्त्री तो दुःखी से दुःखी समझी जाती हैं, क्योंकि उनका कोई स्वामी नहीं—पति नहीं। कहीं बाहर यात्रा करने जाना हो तो स्त्री अकेली जा नहीं सकती। कोई उसका संरक्षक साथ होना चाहिए। यदि स्त्री अकेली घूमे-फिरे तो वह न केवल अरक्षित मानी जाती है बल्कि ऐसा काम स्त्री को न शोभनेवाला माना जाता है! "न स्त्री स्वातन्त्र्य मर्हति"। उसका कोई-न-कोई संरक्षक सदा होना ही चाहिए। इस तरह के विचार समाज में ऐसे रूढ़ हो गये हैं कि वे अत्यन्त स्वाभाविक मालूम होते हैं।

पशु-कोटि में मादा अबला नहीं होती, पक्षियों में भी मादा दुर्बल नहीं होती। वह अकेली ही अपनी और अपने बाल-बच्चों की रक्षा कर सकती है। परन्तु पुरुष ने स्त्री को ऐसी दृढ़ शिक्षा दी और स्त्री ने भी

उसे ऐसी श्रद्धा से ग्रहण किया कि उसकी अपने ऊपर की श्रद्धा बिलकुल ही उड़ गई। हमने ऐसी स्त्रैण शिक्षा बहुत ज़माने से जारी रक्खी होगी और उसीके परिणाम-स्वरूप आज आधा देश अज्ञान, जड़ और भार-रूप हो गया है।

परन्तु प्रकृति का नियम ऐसा है कि हम जैसी शिक्षा देते हैं, हमें भी वैसी ही लेनी पड़ती है। जो स्त्रैण शिक्षा देते है उनकी मनोरचना भी समय पाकर स्त्रैण हो जाती है। 'न स्त्री स्वातन्त्र्य मर्हति' का स्त्रैण अर्थ करनेवाले पण्डितों ने धीरे-धीरे स्वय स्त्रैण होकर एक स्त्रैण सूत्र उपजा डाला—'अनाश्रया न शोभन्ते, पण्डिता वनिता लताः'। ऐसी स्त्रैण शिक्षा के कारण हम बिना ही परिश्रम भोजन मिलने की इच्छा रखते हैं। इसी शिक्षा के कारण युवावस्था में भी पेन्शन देनेवाले की खोज में फिरते हैं। इसी शिक्षा के कारण हम मोपलों के पागलपन से घबराकर ब्रिटिश संगीनों का आश्रय लेते हैं—उनका स्वागत करते हैं।

पर नहीं, ऐसा कहने में अन्याय होता है। यह सभी कल तक ही था। आज तो जिन्होंने स्त्रैण शिक्षा का त्याग किया है वे अपने पसीने की बदौलत मिली रोटियों को ही मिष्टान्न मानते हैं। वे अफ़ग़ान को भाई के समान मानते हैं और मोपला भाइयों पर उनकी इतनी श्रद्धा है कि पहले तो वे इस बात को बिना विश्वसनीय प्रमाणों के मानने के लिए तैयार ही नहीं कि मोपलों ने भारी अत्याचार किया होगा और यदि मोपलों ने कुछ किया भी हो तो उससे दशगुना अत्याचार करने पर भी उसका इलाज कौटुम्बिक नियमानुसार ही वे करना चाहते हैं। संस्कृत-काव्यों में ऐसा वर्णन आता है कि जब आकाश में

बादलों की गड़गड़ाहट होती थी तब ललनायें 'त्राहि माम्, त्राहि माम्' कहती हुई पास खड़े हुए तरुण पुरुष के वक्षःस्थल का आश्रय लेती थीं और इसलिए इस स्त्रैण स्वभाव को पहचान कर बहुतेरे युवकगण, स्त्री के रुष्ट होकर बैठ जाने पर, मेघ-गर्जना होने की प्रार्थना करते थे। आज नौकरशाही भी अशक्त असहयोगियों को वश में करने के लिए मोपलों के उत्पात तक का स्वागत कर रही है और अपनी दी हुई स्त्रैण शिक्षा पर उसे इतना विश्वास है कि मोपलोंवाली दलील मानों रामबाण अस्त्र हो, यह समझकर उसका उपयोग करती है; और हममें भी अभी कितने ही ऐसे लोग मौजूद हैं जो ऐसा स्वराज्य चाहते हैं कि जिसमें विदेशी लोग हमारी रक्षा करें। जिसने स्त्रैण शिक्षा को प्राप्त किया है उसकी स्वराज्य-सम्बन्धी कल्पना भी स्त्रैण ही हो सकती है।

स्त्रैण शिक्षा परिश्रम से डरती है। स्त्रैण शिक्षा किसी समय भी विपत्ति का आह्वान नहीं करती। स्त्रैण शिक्षा विलासप्रिय होती है। स्त्रैण शिक्षा को वह प्रिय होता है जो सरल हो, थोड़ा हो, बिना परिश्रम मिलता हो, जिसके लिए यज्ञ और तपस्या न करनी पड़े स्त्रैण शिक्षा ऊपर के भभके के भुलावे में पड़ती है। स्त्रैण शिक्षा थोड़े और क्षणिक स्वार्थ ही को देखती है। स्त्रैण शिक्षा में पुरुषार्थ कहाँ से हो सकता है? परिश्रम तो स्त्रैण स्वभाव के विरुद्ध है।

स्त्रैण स्वभाव का अर्थ स्त्री-स्वभाव नहीं। स्त्रियाँ तो आज भी हिन्दुस्थान में भारी-से-भारी तप और यज्ञ करती हैं। आज जो पुरुषों में स्त्रियों के समान संयम होता तो स्वराज्य कभी का

मिल गया होता। स्त्री-स्वभाव में तो तेज होता है, परन्तु स्त्रैण स्वभाव में उसका पूर्ण अभाव होता है। स्त्रैण स्वभाव में 'अतिदूरन्देशीपन', अति-होशियारी और अति-सुरक्षितता की ओर पूरी-पूरी दृष्टि होती है।

स्त्रैण शिक्षा का त्याग करना सुगम है, परन्तु स्त्रैण शिक्षा के कारण बने स्त्रैण स्वभाव को छोड़ना सुलभ नहीं। आज दिन हरेक मनुष्य शिक्षा के अन्त में श्रेष्ठ 'केरिअर' प्राप्त होने की इच्छा रखता है। 'केरिअर' का ध्यान रखने में कुछ बुराई नहीं; परन्तु 'केरिअर' दो प्रकार का होता है। 'केरिअर' मर्दाना भी होता है और स्त्रैण भी होता है। जिसमें महत्त्वाकांक्षा होती है, जिसमें कमाने और गुमाने का साहस होता है, जिसमें संकट में जूझने ही में निरतिशय आनन्द पाने की वृत्ति होती है, जिसमें मरकर कीर्त्ति-रूप में जीने की लालसा होती है, वह 'केरिअर' मर्दाना अथवा पौरुषी है। प्राण जाय पर ईमान न जाय, ग़रीबी भले ही आ जाय पर नाक नीची न हो, परिश्रम भले ही करना पड़े परन्तु अन्याय की रोटी कदापि न खावें, इस तरह का स्वभाव मर्दाना है। आज बहुतेरे विद्यार्थी रुई धुनकने से टाइप-राइटर, सूत कातने से ताश खेलना, कपड़ा बुनने से लेक्चरबाज़ी और कम्पोज़ीटर बनने की अपेक्षा क्लर्क बन जाना अधिक पसंद करते हैं। यह सब स्त्रैण शिक्षा का ही प्रभाव है।

मर्दानी शिक्षा का पहला सिद्धान्त यह होना चाहिए कि जो परिश्रम करने के लिए तैयार न हो उसको पढ़ने का अधिकार नहीं। कोई भी विद्यार्थी मजूर न रहकर पण्डित न बन पाये। शिक्षा लेने के लिए मनुष्य धन भले ही न दे सके, पर उसे परिश्रम तो देना ही चाहिए।

शिक्षार्थी मनुष्य-समाज से अनाज भले ही ले, पर परिश्रम तो उसे स्वयं ही करना चाहिए; अपना भार भी वह समाज पर भले ही रक्खे, किन्तु अपने समान अनेक विद्यार्थियों को पढ़ानेवाले गुरु का भार तो अपने ही ऊपर ले।(मनुष्य शिक्षा के परिणाम-स्वरूप अनेक तरह की रुचियाँ भले ही प्राप्त करे, परन्तु निर्विघ्न जीवन जीने की रुचि का विकास कदापि अपने अन्दर न करे; क्योंकि जोखिम—खतरा—ही जीवन का रहस्य है। और विघ्न-बाधाओं के साथ युद्ध करना सच्चा शौर्य है—सच्चा पुरुषार्थ है

---

[२]

भूगोल का ज्ञान या भान

(एक मित्र को लिखी हुई चिट्ठी)

ऐसे परखैयों को भी मैंने देखा है, जो किसी सोने की अँगूठी को हाथ में लेते ही यह बतला देते हैं कि वह कितने तोले और कितनी रत्ती की है। पास में घड़ी न रखकर भी कितने ही लोग स्वभावतः आसानी से बराबर समय बता देते हैं। मुझे स्वयं पहले यह तरतीब सध गई थी—रात को आँख खुलते ही मैं प्रायः ठीक-ठीक समय बतला देता था; पर अब भूल गया हूँ। पढ़ना-लिखना न जाननेवालों की स्मरण-शक्ति और निरीक्षण-शक्ति बहुत तेज़ होती है। इसी तरह देहाती मनुष्यों को दिशाओं का भान बहुत ही अच्छा होता है। कबूतरों की आँखों में पट्टी बाँधकर उन्हें सन्दूक़ में बन्द कर चाहे जैसे

टेढ़े-मेढ़े रास्ते से एक गाँव से दूसरे और दूसरे से तीसरे में ले जाइए, ज्यों ही आपने उन्हें छोड़ा नहीं कि वे जिस गाँव से लाये गये थे ठीक सीधी लकीर में तुरन्त उसी जगह जाकर बैठ जायँगे। दिशाओं का यह भान कबूतरों में स्वाभाविक है।

अब प्रश्न यह है कि शिक्षा में कौनसा ध्येय नियत करना चाहिए? आपका भूगोल-विषयक प्रश्न उससे कहीं अधिक व्यापक है, जितना कि आपने उसका निरूपण किया है। शिक्षा का ध्येय कौन-सा हो? आज दिन तो लोग शिक्षा की व्याख्या एक प्रकार की करते हैं और बर्ताव और ही प्रकार का। शिक्षा की व्याख्या है अन्तःस्थ शक्तियों का विकास करना; परन्तु बाह्य साधनों को काम में लाना सीखना, यह हुआ उसका मार्ग। पाश्चात्यों की व्याख्या के अनुसार (तथा अपनी प्राचीन प्रणाली के अनुसार भी) शिक्षा का अर्थ है योगविद्या। क्या अध्यात्म और क्या कला, क्या पदार्थविद्या और क्या धनुर्विद्या, सभीको पहले हम लोग 'योगबलेन' अवगत अथवा हस्तगत करते थे। इसका एक स्थूल उदाहरण दूँ तो, पहले अमरकोश मुखाग्र कर लेते थे; अब थेसारस* का उपयोग कैसे किया जाय, यह सीखा जाता है। पहले हम लोग अङ्क (गिनती) याद करते थे; अब रेडी-रेकनर का उपयोग किस तरह करना चाहिए और चेम्बर के लागरथम का कोष्ठक किस तरह काम में लाना चाहिए, यह सीखते हैं। पहले इस बात पर अधिक ध्यान दिया जाता था कि कण्ठ से उत्तम स्वर कैसे निकले; आज दिन इसके लिए परिश्रम किया जाता है कि वही स्वर ग्रामोफ़ोन में किस तरह उतारें। सारांश

* Thesarus (शब्दकोश)

यह है कि पहले बलवान् होकर शक्तिशाली होने की ओर झुकाव था और अब धनवान होकर साधनवान होने की प्रवृत्ति देखने में आती है

आजकल यूरोप में साधनों के सम्बन्ध में एक तरह का वैराग्य उत्पन्न होने लगा है और अन्तःस्थ शक्ति की वृद्धि करने की लालसा दीख पड़ती है। किन्तु वह लालसा किस रास्ते से पूरी होगी, यह अभी निश्चित नहीं हुआ। उनका आधार बहुतांश में उपकरणों पर है और हमारा आधार था ध्यान के ऊपर। गुण और दोष दोनों पद्धतियों में वर्तमान हैं। साधनों के द्वारा अयोग्य मनुष्य भी बहुत सुख प्राप्त कर लेते हैं। अन्तःस्थ शक्ति तो जिसमें हो उसीको लाभकर या हानिकर होती है। नक़शे के सम्बन्ध में ऐसा ही हुआ है। 'हमारा स्वदेश हिन्दुस्थान' या 'प्यारा हिन्दुस्थान' आदि गीत गाते समय लकड़ी की दो चीपों में मढ़ा हुआ लाल और पीले (तथा कहीं-कहीं हरे) रंग का नक़शा आँखों के सामने आ खड़ा हो तो वह किस काम का ? लड़का यदि और अधिक पढ़ा हो तो उसे ज्यादा-से-ज्यादा फ़िलिप के रिलीफ़-मैप की याद हो आवेगी। मुँह से 'भारत हमारा देश है' इन शब्दों के निकलते ही दशहरे के दिन गङ्गाजी में स्नान करने का, शिवरात्रि के दिन श्रीरामेश्वर पर अभिषेक करने का तथा दीवाली के अवसर पर सजाया हुआ अमृतसर, मुहर्रम के दिनों का पूना दुर्गापूजा करता हुआ कलकत्ता और दशहरे के दिन सीमोल्लंघन के लिए जानेवाला बड़ोदा आँखों के सामने उपस्थित हो जाना चाहिए। 'अम्बरचुम्बित-भाल हिमाचल' का आलाप कानों पर आते ही नन्दादेवी के दिव्य शिखर, गौरीशङ्कर के धवल मुकुट की स्मृति खड़ी हो जानी चाहिए।

हिन्दुस्तान शब्द कान में पड़ते ही आगरे का ताजमहल, अजन्ता की गुफायें, सिंहगढ़ का किला और अजमेर का पुष्करराज सरोवर, हलदीघाटी तथा पानीपत की रणभूमि का स्मरण हो जाना चाहिए; शङ्कराचार्य और समुद्रगुप्त, अशोक और अकबर, कालीदास और तानसेन, जगदीश और रवीन्द्र, गाँधी और तिलक, बेसेण्ट और निवेदिता—इन सबका स्मरण हो जाना चाहिए।

पर यह सब हो किस तरह ? इस समय 'सुवर्णयुग' लगा है। जहाँ देखो वहीं सुवर्ण के लिए छटपटाहट हो रही है। लड़का जल्दी-से-जल्दी कमाने-धमाने लग जाय, क्योंकि पैसे बिना कुछ नहीं मिलता। देशाटन करके और प्रवासियों के साथ हिल-मिलकर धीरे-धीरे देश-भूमि का भान हो, इतनी देर तक धैर्य किसको ? साहित्याचार्य पत्नी को अर्धाङ्गिनी कहते आये हैं; पर स्त्री-स्वातन्त्र्य के ज़माने में उनके शब्द झूठे हो गये हैं। आजकल तो मनुष्य का अर्धाङ्ग उसकी घड़ी, साइकल, थरमामेटर रेल्वेगाइड, दैनिकपत्र, नक़शे और Who is who हैं।

जिस समय आपका पत्र आया उस समय मेरा भूगोल-विषय ही चल रहा था और मैं······· से पूछ रहा था कि ईशान्य कोण कौनसा है ? उसने कहा कि मैं नक़शे पर बतला सकता हूँ, वैसे तो नहीं जानता। इस उत्तर को सुनकर मैं लज्जित हो गया। इतने ही में आपका पत्र मिला।

इसके दो ही घण्टे बाद मैंने एक अंग्रेज़ी पुस्तक में पढ़ा:—

"Maps have become so completely mixed up with our thought of places far and near that we take their

existence as a matter of course, almost in the same way as that of the sun above our heads or the air about us."

———

[३] ✓

रूपान्तर और देहान्तर

कोई सहृदय मनुष्य भिन्न-भिन्न वस्तुओं के वीच कोई ऐसा साम्य देखता है, जो आश्चर्य या आनन्द उत्पन्न करता है, तब वह इस श्रद्धा से कि अन्य मनुष्य में भी वही सहृदयता भरी है, उस साम्य को उपमा के रूप में प्रकट करता है। दूसरा मनुष्य यही उपमा तीसरे मनुष्य को बतलाता है। और इस तरह लगभग सारा समाज भाषा के इस अलङ्कार से भिज्ञ हो जाता है। समय पाकर इस उपमा की नवीनता और चमत्कार कम हो जाते हैं और वह नीरस बन जाती है। फिर जिस प्रकार हम दूध को उबालकर उसका मीठापन बढ़ाते हैं, उसी प्रकार इस उपमा के शब्दों को कम करके हम उसका एक रूपक बनाते हैं। रूपक समाज और भाषा की उन्नति का चिन्ह है। बिना एक विशिष्ट संस्कार के प्राप्त हुए रूपक नहीं बन सकता। हम कारक प्रत्ययों को उड़ाकर सामाजिक शब्द बनाते हैं। ये भी भाषा और मनुष्य की विचार-शक्ति की उन्नति प्रकट करते हैं। समास के भीतर जो ओजस् है, वह विचार-शक्ति ही का ओजस् है। समय पाकर यह समास या यह रूपक सर्वत्र फैलता है, सभी लोग उससे काम लेते हैं, शनैःशनैः हम यह भाव भी भूल जाते हैं कि इसकी जड़ में दो वस्तुओं के मध्य का सम्बन्ध है।

इस तरह तो आप मुझसे पार न पायँगे, हम लगभग भूल ही गये हैं कि इस वाक्य में नदी अथवा समुद्र लाँघ जाने की कल्पना है।

इस आलङ्कारिक भाषा में प्रौढ़ता तो है, परन्तु उसका सार्वत्रिक व्यवहार होने से उसका प्राण निकल गया है, केवल उस संस्कार का ढाँचा-मात्र रह गया है। भाषा में शब्द-रचना बढ़ गई, किन्तु उसी परिमाण में उसका अर्थ-वाहित्व कम हो गया। शिक्षा का कार्य है, उस वाहित्व को जाने न देना, या जो गया है उसका पुनरुद्धार कर देना। पुराने भूले हुए संस्कारों को जागृत कर देना भी उतना ही महत्वपूर्ण काम है, जितना नई उपमाओं का खोजना, नये संस्कारों का निर्माण करना। इसीलिए शब्दों और अलङ्कारों की व्युत्पत्ति के खोजने को उच्च शिक्षा का महत्त्वपूर्ण अङ्ग हम मानते हैं। 'कुशल,' 'अनुकूल,' 'गोत्र,' और 'अलङ्कार' आदि शब्दों की व्युत्पत्ति खोजने से हमें कुछ पुराना इतिहास मिलता है और इन शब्दों का उपयोग करके हम गहरे भाव व्यक्त कर सकते हैं। शब्दों का इतिहास जानने से शब्द की शक्ति का ठीक-ठीक नाप लगाया जा सकता है। हरेक शब्द के कुल, गोत्र इत्यादि के ज्ञान से हमारी भाषा शुद्ध और प्रतिष्ठित होती है; इसीलिए तो श्रद्धेय आदि-ग्रन्थों के अध्ययन को शिक्षा में अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय समझा गया है। आदि-ग्रन्थों का अध्ययन करके हम विचारों और भाषा का मूल जान सकते हैं।

भाषा-वृद्धि के इस तत्त्व को देखकर हम उसका शिक्षा में उपयोग करते हैं, इसी तरह हमारे आचार-व्यवहारों के सम्बन्ध में भी होन चाहिए। जब हमारे दिल में जन-समाज के सुख के लिए कुछ करने

की इच्छा उत्पन्न होती है, तब हम उसके अनुसार कुछ परोपकार का काम करते हैं। यदि वह काम समाज को अनुकूल जँचा तो धीरे-धीरे वही रिवाज या आचार में परिणत हो जाता है। अतिथि-सत्कार, प्रिय-जनों से सहानुभूति, समवेदना आदि रिवाज इसी तरह के हैं। पहले तो सामाजिक सेवा की वृत्ति से परोपकार का कार्य होता है, फिर वही कर्म जब रिवाज बन जाता है तब उस रिवाज के कारण समाज-सेवा की वृत्ति उत्पन्न होती है या टिकी रहती है। सामाजिक संस्कार, जातीय रिवाज या प्रथायें अथवा विवेक इत्यादि वस्तुओं के भीतर ओजस् होता है। यही सच्चा सुधार भी है। किन्तु अधिक समय बीत जाने पर इन प्रथाओं का भीतरी तत्त्व भुला दिया जाता है, संस्कृति का प्राण उड़ जाता है और उस ओजस् प्रथा के रूप में केवल ढाँचा रह जाता है। प्राण का स्वभाव ही यह है कि वह एक ही शरीर में बहुत समय तक स्थिर नहीं रहता। जीवित अवस्था में भी हमारे शरीर में प्रतिदिन रूपान्तर होता रहता है। जब हमारी यह रूपान्तर करने की शक्ति घट जाती है, तब हमें शरीरान्तर करना पड़ता है। भाषा में भी उपमा से रूपक तक का रूपान्तर होता है। फिर इसी साम्य को बतलाने के लिए नई उपमा की सृष्टि होती है। वही शरीरान्तर है।

ठीक यही बात रिवाजों की भी है। प्रथाओं के भीतर जो प्राण है उसे यदि स्थिर रखना हो, संस्कृति को तेजस्विनी बनाये रखना हो, तो उनके भीतर भी रूपान्तर और शरीरान्तर कराना जरूरी है। शिक्षा-द्वारा हम पुरानी जीर्ण-संस्कृति का रूपान्तर करते हैं और नवीन संस्कृति का रास्ता साफ करते हैं। अर्थात् अध्ययन में निरन्तर भूत और भविष्य के

प्रान्तो को स्पर्श करते रहना चाहिए। यह नियम अत्यन्त रहस्यपूर्ण और महत्वपूर्ण है। यह तो शिक्षाशास्त्र का एक आधार-स्तम्भ ही है। संस्कृति कों सुरक्षित रखने का मूलमंत्र भी यही है। हमने पातिव्रत-वृत्ति का विकास सती-दहन तक किया। यदि प्रत्येक सत्कर्म को हम प्रथा का रूप दे देते हैं तो पहले-पहल तो उसका ओजस् खूब बढ़ता है, किन्तु बाद में वह निष्प्राण—खोखला—बन जाता है। इसीमें संस्कृति का नाश है। अतः शिक्षा द्वारा संस्कारों को सदा चैतन्य प्राण देकर संस्कृति की अग्नि को सदा प्रज्वलित बनाये रखना ज़रूरी है। रूढ़ि या विचारों का अभाव, दोनों, संस्कृति-रूपी अग्नि को ढांपनेवाली राख हैं। समाज को चाहिए कि अपना जीवन विचारवान् बनाकर निरन्तर शिक्षा-रूपी फूँकों के द्वारा अग्नि पर जमनेवाली राख को उड़ाता रहे और यथासमय उसका रूपान्तर और देहान्तर भी करता रहे। संस्कृति को प्राणवान् और विकासशील बनाये रखने का यही तरीक़ा हैं।

---

[४]

अंग्रेज़ी शिक्षा

श्री आनन्दकुमार स्वामी ने अंग्रेज़ी शिक्षा का वर्णन इस तरह किया है:—

"हमारे यहां अंग्रेज़ी राज्य की ऐसी विचित्रता है कि जिस वस्तु ने हिन्दुस्थान की भारी-से-भारी हानि की हो, वही हमें अपने लिए आशीर्वाद-रूप मालूम होती हैं। इसका यथार्थ उदाहरण है शिक्षा।"

अच्छे या बुरे उद्देश से शिक्षा के नाम पर जो वस्तु हमें दी जाती है, उसने हिन्दुस्थान के राष्ट्रीय उत्कर्ष पर जितना मर्मघातक प्रहार किया है उतना किसी और वस्तु ने नहीं।

आज दिन यदि हम स्वराज्य के लिए योग्य हैं, तो इसका कारण वह सुधार नहीं जो शिक्षा के फल-स्वरूप हमने किया हैं, बल्कि "अंग्रेज़ी शिक्षा की पद्धति के द्वारा हमारी राष्ट्रीय संस्कृति और हमारी विशेष संस्थाओं का तिरस्कार तथा नाश हो जाने के बाद और साथ ही राष्ट्रीयता का नाश करनेवाली कल्पनाओं की हममें जड़ जमा देने पर भी हममें जो कुछ थोड़ा-सा राष्ट्रीय जीवन शेष रह पाया है उसी-के कारण हम स्वराज्य के लिए योग्य बने हुए हैं।"

हम भोले और अज्ञानी थे, संकुचित दृष्टि वाले थे, हमारा सारा जीवन तरह-तरह के वहमों से ओत-प्रोत था, हम संसार के बारे में कुछ भी न जानते थे, हमने स्वतन्त्रता का स्वाद नहीं चखा था, थोड़े में कहें तो हम जीने के अयोग्य थे, ऐसे समय में अंग्रेजी शिक्षा ने आकर हमारा उद्धार किया, यह आम तौर से माना जाता है। यदि कोई अंग्रेज़ी शिक्षा पर ऐतराज करता है, तो उसके हिमायती कहते हैं कि भाषा ने कौनसा पाप किया है ? जैसी संसार की अनेक भाषायें हैं, वैसी ही अंग्रेजी भी है। अलबत्ता वह परिष्कृत और समृद्ध अधिक है; ज्ञान का एक भी विषय ऐसा नहीं कि जिसपर अंग्रेज़ी भाषा में पुस्तकें न हों; और अंग्रेज़ तो बिल्ली की तरह संसार के सभी भागों में संचार करनेवाली एक जाति है, इसलिए अंग्रेज़ी भाषा के कारण हमारा परिचय संसार के साथ बढ़ता है। अंग्रेज़ी शिक्षा सभी तरह आशीर्वाद-

रूप ही सिद्ध हुई है। एकबार बम्बई-सरकार के शिक्षा-मन्त्री ने कहा था कि ऐसे हिन्दुस्थान की तो कल्पना की जा सकती है, जिसमें अंग्रेज़ न हो; किन्तु ऐसा हिन्दुस्थान कल्पना में भी आना कठिन है, जहां अंग्रेज़ी भाषा न हो।

ये उद्गार अंग्रेज़ी-शिक्षा की विजय के सूचक हैं। जो काम डायर जैसे अधिकारियों की गोलियों से न हो सका, वह अंग्रेज़ी शिक्षा ने कर दिखाया है। लोग कहते हैं, "भाषा ने कौनसा पाप किया है?" किन्तु भाषा का अर्थ केवल व्याकरण और शब्दकोश-मात्र ही नहीं; वरन् भाषा का अर्थ है भाषा के बोलनेवालों का स्वभाव, उनका धर्म, उनकी समाज-सम्बन्धी कल्पना और वे सूक्ष्म सिद्धान्त और प्रणालियाँ जिनके अनुसार वे सोचते रहते हैं कि किस बात की प्रशंसा करें और किसकी निन्दा। भाषा होती है समाज का प्राण, समाज की पूंजी और समाज की विरासत। अंग्रेजी भाषा में ही पढ़ाई हो, कोमल अवस्था में सभी तरह के संस्कार अंग्रेजी पुस्तकों से ही लिये जायँ, इस आग्रह का सीधा अर्थ है— अंग्रेज़ों की जाति में मिल जायँ। हम अंग्रेजी राज्य के खिलाफ़ रात-दिन आवाज उठाते रहते हैं, अंग्रेजी रहन-सहन हमारे अनुकूल नहीं, यह भी अब हम जानने लगे हैं। यह भी हम सुनते हैं कि पाश्चात्य सुधार मानव-कल्याण की नींव पर स्थित नहीं हैं। यूरोप की दशा हम देख रहे हैं। पर फिर भी हम मानते हैं कि जिसके भीतर अंग्रेजों का स्वभाव और अंग्रेजों का ही आदर्श भरा है उस भाषा में बच्चों को शिक्षा देना हानिकारक नहीं!

अंग्रेजी शिक्षा के मानी हैं प्रोटेस्टेण्ट शिक्षा। अंग्रेजी शिक्षा का

अर्थ है पारलौकिक जीवन के विषय में लापर्वाह रहने का उपदेश करनेवाली शिक्षा। अंग्रेजी शिक्षा को प्राप्त करनेवाला मनुष्य शायद ही दया करने, ममता रखने तथा मनुष्यता का विकास करने का विचार करता है। उसकी जबान पर तो जीवन-कलह, न्याय, आर्थिक दृष्टि से लाभकारक, प्राकृतिक नियम, इत्यादि शब्द ही सदा रहते हैं। अंग्रेजी शिक्षा हमें कुटुम्ब धर्म भुलाकर शिकार धर्म सिखलाती हैं।

कोई-कोई कहते हैं—"कौन आपको मजबूर करता है कि आप अमुक ही प्रकार के विचार रक्खें? यह भी कैसे कहा जासकता है, कि अंग्रेजी साहित्य में उच्च विचार ही नहीं हैं?" बात सच है। जबरदस्ती नहीं है, किन्तु मायाजाल है; और उच्च विचार किस साहित्य में नहीं हैं? पर प्रश्न यह है कि हमारी दृष्टि के सम्मुख आदर्श कौनसा रक्खा जाता है? अश्लील नाटकों में भी बोध-वचन तो मिल ही जाते हैं, किन्तु उनका प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि विलासी और हीन वृत्ति बनने की प्रवृत्ति होती है। यह उपमा शायद अधिक कठोर होगी। कहने का उद्देश इतना ही है कि जिन लोगों की भाषा के द्वारा शिक्षा के प्रथम संस्कार हम लेते हैं, उनके स्वभाव का असर हमारे ऊपर पड़े बिना नहीं रह सकता। बालकों को शिक्षा अपनी ही भाषा द्वारा देने से अपनी संस्कृति के गुण-दोष बच्चों में उतरते हैं; और यदि शिक्षा की पद्धति सरल और सादी हो तो नई पीढ़ी उसमें से उन्नति के अंश खोज सकती है। विदेशी भाषा द्वारा शिक्षा पाने से परकीय लोगों के गुण-दोष की छाप पड़े बिना रही नहीं सकती। और दूसरों के गुणों को हजम करना कठिन

होने के कारण कई बार उनके दोषों ही का अनुकरण होता है। इस तरह सारी चित्त-वृत्ति ही भ्रष्ट हो जाती है, सो अलग।

हमने जो अंग्रेज़ी शिक्षा ग्रहण करना आरम्भ किया सो कुछ अंग्रेज़ों के धर्म अथवा समाज-रचना-विषयक आदर के कारण नहीं, बल्कि खासकर सरकारी नौकरी प्राप्त करने के लालच से और कुछ अंशों में स्वच्छन्दता करने के विचार से। इसके बाद अंग्रेज़ों ने कहा कि हिन्दुस्थान की समाज-रचना से यूरोप की समाज-रचना श्रेष्ठ है। अंग्रेज़ इस देश के राज्यकर्ता ठहरे, इसलिए हमने उनका यह दावा स्वीकार किया। देश और विदेश विषयक ज्ञान में और भौतिक शास्त्रों में उनकी प्रगति को देखकर हमारा निश्चय हुआ कि अंग्रेज़ हम लोगों की अपेक्षा अधिक होशियार हैं। किन्तु होशियार के मानी सुधरे हुए नहीं; होशियार के मानी धर्मनिष्ठ नहीं। यदि हम लोगों में धर्म-तेज ही होता तो भी हम अंग्रेजों से चौंधिया नहीं जाते। किन्तु दुर्दैव-वश इस विषय में हमारे देश में आधी रात थी; इसलिए सभी तरह अंग्रेज़ी शिक्षा के फैलाव के लिए वह अनुकूल समय था।

अब अंग्रेज़ी शिक्षा के कारण हममें कौन-कौनसे परिवर्तन हुए हैं, यह देखना चाहिए।

सबसे पहला परिवर्तन तो यह हुआ कि हम यह मानने लगे कि अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाने और रहन-सहन को खर्चीला कर देने में कोई दोष नहीं, वरन् उलटा समाज का हित ही है। इसके कारण विदेशी व्यापार बढ़ा और हमारी द्रव्य की थैली में अनेक छेद हो गये।

दूसरा परिवर्तन यह हुआ कि हमारे दिल में अपने समाज के सम्बन्ध में तिरस्कार उत्पन्न हुआ, इसीके परिणाम-स्वरूप हम समाज की सहायता की अपेक्षा पैसे की सहायता से सभी काम चलाने की सुविधा खोजने लगे और दिन-दिन समाज में रहनेवाले लोगों का परस्पर सम्बन्ध टूटता गया।

तीसरा एक परिवर्तन यह हुआ कि पढ़ा-लिखा मनुष्य अपनी साहित्य-सम्बन्धी भूख और प्यास को अंग्रेज़ी-साहित्य के द्वारा ही मिटाने लगा। इससे निज भाषा का साहित्य ताक में रक्खा रह गया। जहाँ इसका अध्ययन भी न हो, वहाँ उसमें वृद्धि तो हो ही कैसे सकती है?

चौथा परिवर्तन यह हुआ कि हम अंग्रेजी पढ़नेवाले मनुष्यों को ही श्रेष्ठ समझकर उन्हींसे वाहवाही लेने को आतुर हो उठे और अपने लेख अंग्रेजी में ही लिखने लगे। हिन्दुस्थान के शिक्षित-समुदाय ने संस्कृत और देशी भाषा की पुस्तकों का अंग्रेजी अनुवाद करके अंग्रेजी भाषा के घर में थोड़ी गुलामी नहीं की। हिन्दुस्थान को जीतनेवाली जाति को हमारे विद्वानों का दिया हुआ यह कर बहुत ही भारी है।

हमने अपनी राजनैतिक हलचल भी अंग्रेजी भाषा ही में चलाई, जिससे राज्यकर्ता को उत्तम शिक्षा और राज्य-कार्य-संचालन-दक्षता भी प्राप्त हुई। उस परिमाण में हम लोगों को स्वराज्य की कुछ भी शिक्षा न मिली।

अंग्रेजी जाननेवालों की एक न्यारी ही जाति हो गई है। वे अंग्रेजी न जाननेवाले राष्ट्र के साथ समभाव नहीं रखते, उनके विचारों को

समझ नहीं सकते, अपने विचार उन्हें समझा नहीं सकते और उनके प्रति कुछ तुच्छ भाव रखना सीखते हैं।

अंग्रेजी शिक्षा द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान वन्ध्य साबित होता है। वह न तो देशी भाषा के द्वारा दिया जा सकता है, न जीवन में अच्छी तरह उतर ही सकता है। हमारे पुराने संस्कारों के साथ उसका मेल नहीं बैठता और इसलिए पुराना सब मिटाकर उस जगह पाश्चात्य सृष्टि की एक नक़ल खड़ी कर देने का वह प्रयत्न करता है। दो ही पीढ़ियों के भीतर संस्कृति की दृष्टि से सारे राष्ट्र को दिवालिया और भिखारी बना देने का सामर्थ्य इस शिक्षा ने प्रकट किया है।

अंग्रेजी शिक्षा से जीवन में स्वच्छन्दता का तत्त्व इतना घुस गया है कि समाज में से विवेक और कला दोनों लुप्त हो गये हैं। मानसिक और नैतिक दुर्बलता पर मनुष्य को जो लज्जा मालूम होनी चाहिए, वह भी जाती रही; और ज्यों-ज्यों स्वच्छन्दता प्रबल होती जाती है, त्यों-त्यों नैतिक आदर्श को नीचे खींचने की ओर पढ़े-लिखे मनुष्यों का झुकाव दिखाई देता है।

हमने अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा भौतिक शास्त्रों में कोई भारी वृद्धि नहीं की। इस भारी संस्कारी देश के परिमाण में हमने ऐसा भारी साहित्य भी नहीं उत्पन्न किया, जिससे संसार में कृतज्ञता उत्पन्न हो।

विदेश जाना सारे राष्ट्र का उद्देश्य कभी नहीं हो सकता। हज़ार में एकाध मनुष्य ही शायद विदेश को जाता होगा। उसके लिए सारी शिक्षा का आधार अंग्रेजी भाषा पर रखने के समान दूसरा और पागल-पन क्या हो सकता है?

अंग्रेजी शिक्षा पाये हुए सामान्य मनुष्य अंग्रेजी राज्य का चाहे कितना ही द्वेष करते हों, परन्तु अपने आचरण के द्वारा वे अंग्रेजी राज्य को सहारा ही देते हैं। स्वराज्य की हलचल में जिन तीक्ष्ण उपायों का अवलम्बन करना जरूरी है और राष्ट्रीय दृष्टि में जो परिवर्तन करना उचित है, उसमें ये अंग्रेजी पढ़े मनुष्य ही विघ्नरूप हो जाते हैं। पानी के बाहर जो दशा मछली की होती है, वही दशा इन लोगों की अंग्रेजी शिक्षा के वातावरण बिना हो जाती है।

अंग्रेजी शिक्षा ही के कारण हिन्दुस्थान का राज्य तन्त्र अंग्रेजी भाषा में चल सकता है और उससे प्रजा पर अधिक अत्याचार होता है और प्रजा को भी वह चुपचाप सहन करना पड़ता है।

अमेरिका का एक भी मनुष्य जब अपने कुटुम्ब का इतिहास लिखने लगता है तो उसे अपने कुटुम्ब का मूल पुरुष यूरोप में खोजना पड़ता है। हमारे अंग्रेजी पढ़े मनुष्य भी जब कभी किसी विषय पर विचार अथवा विवेचन करते हैं, तब उन्हें सर्वदा यूरोप की परम्परा, वहाँ के अनुभव और वहीं की दलीलें बतौर प्रमाण के लेने की आदत पड़ी होती है। इसका यह अर्थ हुआ कि हम अपनी विरासत को छोड़ कर दूसरे की विरासत पर प्रतिष्ठित होना चाहते हैं। यह भी वर्ण-संकरता के समान ही भारी संकट है।

इतनी सब हानि होते हुए भी हम अंग्रेज़ी पढ़ते हैं। किस लोभ से? इतने ही के लिए कि कुछ कमाई अधिक हो और राज-दरबार में अधिक अप्रतिष्ठा न सहनी पड़े। परन्तु यह कमाई विदेशी चीजों का व्यापार करके अथवा विदेशी सरकार को अत्याचार करने में प्रत्यक्ष

या परोक्ष रीति से सहायता करके प्राप्त करनी होती है। और जिस तरह कोई मज़दूर कलक्टर साहब का चपरासी हो जाने पर अपनी ही जाति का तिरस्कार करने में अपनेको कृतार्थ समझता है, वैसे ही कुछ-कुछ अंग्रेजी पढ़े मनुष्य भी अपने अंग्रेजी ज्ञान से फूलकर अपने ही समाज के साथ तुच्छता का बर्ताव रखते हैं। अच्छे संस्कारी मनुष्यों में ऐसे दोष कम पाये जाते हैं, और उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा के कारण वे दोष ढक भी जाते हैं, किन्तु इस परिस्थिति के कारण देश का अपार तेजोवध होता है। संक्षेप में कहें तो अंग्रेजी शिक्षा को लेकर हम अपनी संस्कृति को गँवा बैठे, समाधान गँवा दिया, समाज की एकता भङ्ग कर दी, स्वदेश का धन विदेश भेज दिया, हीन बनकर दूसरों की हर तरह की गुलामी की और स्वराज्य के मार्ग में एक महाविघ्न-रूप हो गये। ये सभी दोष दीपक के समान स्पष्ट होने पर भी हम उन्हें देख नहीं सकते। यह भी इसी शिक्षा का प्रभाव है। हिन्दुस्थान की बरबादी के दूसरे सब कारणों को लोग सरलता से स्वीकार कर लेते हैं; किन्तु अंग्रेजी शिक्षा भी हमारे सर्वनाश का एक बड़ा कारण है, ऐसा कहते ही कितने ही मनुष्य अपना घोर विरोध प्रकट करेंगे; क्योंकि दूसरे कारणों का बुरा असर तो अपनी पोशाक पर, अपनी जेब पर, अपनी कुटुम्ब-व्यवस्था पर या अपनी तन्दुरुस्ती पर हुआ होगा, परन्तु अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव तो हमारे मस्तिष्क और हृदय पर ही पड़ा है।

यहाँ हमारे कहने का आशय यह नहीं कि हिन्दुस्थान में कोई भी मनुष्य कभी अंग्रेजी पढ़े ही नहीं। किन्तु, हाँ, शिक्षा में अंग्रेजी को स्थान नहीं दिया जा सकता। शिक्षा के संस्कार पूरे हो जाने पर फिर

जिसे अंग्रेजी-भाषा का ज्ञान प्राप्त करना हो, वह बेखटके प्राप्त करे। वह उसमें से बहुत लाभ प्राप्त कर सकेगा। यदि शिक्षा में अंग्रेजी को स्थान देना ही हो, तो जितना ही देर में दिया जाय उतना ही ठीक है। क्योंकि स्वदेशी, स्वकर्म, स्वधर्म, स्वभाषा और स्वराज्य के संस्कार दृढ़ हो जाने के बाद ही कोई अंग्रेजी साहित्य का अभ्यास करे तो उससे वह बहुत लाभ उठा सकता है, और स्वदेश तथा इङ्गलैण्ड को भी बहुत लाभ पहुँचा सकता है। आजकल अंग्रेजी शिक्षा की बदौलत जो हमारी राष्ट्रीय हानि होती जा रही है, उसे तो अतिशीघ्र रोक देने की आवश्यकता है।

---

[५]

हिन्दुस्थान की राष्ट्र-भाषा

हमारा प्रयत्न हिन्दुस्थान में एकभाषा करने का नहीं है। हमारा यह भी अभिप्राय नहीं है कि भिन्न-भिन्न प्रान्तों की भाषायें नष्ट होकर भारत में एक ही भाषा रहे। हिन्दुस्थान जैसे विशाल राष्ट्र की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए भिन्न-भिन्न गुण और स्वभाव वाली प्रान्तीय जातियों की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही भारतीय संस्कृति के सार्वदेशिक विकास के लिए भिन्न-भिन्न भाषाओं की भी आवश्यकता है। किन्तु जैसे भिन्न-भिन्न इन्द्रियों में सञ्चार करनेवाला मन तो एक ही है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण शरीर में एकरूपता और एकप्राण का सञ्चार होता है, उसी तरह आज हिन्दुस्थान में एकराष्ट्रीयता की भावना

जागृत तथा व्यक्त करने के लिए राष्ट्रीय भाषा की अत्यन्त आवश्यकता है। पर यह आवश्यकता आज ही उत्पन्न हुई हो, सो नहीं। बहुत प्राचीनकाल से हिन्दुस्थान में प्रयत्नपूर्वक राष्ट्रीय भाषा निर्माण करके उसे विकसित किया गया है। जब हिन्दूराष्ट्र तेजस्वी था, सुसंस्कृत था, सम्पूर्ण जगत् में श्रेष्ठ था, उस समय हिन्दुस्थान के उत्तमोत्तम विचार, आर्यों के काव्य और तत्त्वज्ञान, आर्यों के पराक्रमों के वर्णन और आर्यों की शास्त्रीय खोजें आदि सभी शुद्ध,उदात्त और संस्कृत भाषा में किये जाते थे; और इसी लिए उस भाषा को देववाणी का गौरवान्वित पद प्राप्त हुआ। जब हिन्दु-स्थान की अवनति हुई, भारत की अभिरुचि बिगड़ी, तब भी हीन विचार और अश्लील कल्पनाओं से संस्कृत भाषा को दूषित कर देना उस वक्त के लोगों ने ठीक न समझा। इसलिए उन्होंने प्राकृत-भाषा का आश्रय लिया। संस्कृत-भाषा में आर्यों को शोभित करनेवाले शुद्ध विचार ही लिखे जाते थे। आगे चलकर यह स्थिति भी भ्रष्ट हुई, राष्ट्रीय जीवन क्षीण हुआ और फिर कुछ भी नियम न रह गया। बीच में हिन्दुओं ने फिर से खड़े होने का प्रयत्न किया; और उस समय भी उन्होंने श्रेष्ठ विचारों के लिए संस्कृत-भाषा ही का दोहन किया; पर लोक-जागृति के लिए उस समय की प्रचलित भाषाओं को उपयोग में लाने के सिवा दूसरा चारा नहीं था। अतः जहाँतक हो सका संस्कृत वाङ्मय का प्रचलित भाषाओं में रूपान्तर कर दिया गया। आज राष्ट्रीय जीवन फिर से ज़ोरों के साथ फुँकार मारने के लिए प्रयत्न कर रहा है। उसे प्रकट करने के लिए राष्ट्रीय भाषा की भी आवश्यकता पैदा हुई है। अतः सवाल खड़ा हुआ कि यह राष्ट्र-भाषा कौनसी हो? यह एक

अत्यन्त व्यावहारिक प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हुआ है। पर राष्ट्र की उन्नति तो पूर्ण-परम्परा का अनुसरण करके ही हो सकती है। यह महान सिद्धान्त जिसे मान्य है, उसके आगे यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि आज की राष्ट्र-भाषा संस्कृत-परम्परा का अनुसरण करके ही होनी चाहिए।

पर आज भारत में केवल हिन्दू ही नहीं रहते। अद्वैत-वादी प्रेम-धर्मी हिन्दुस्थान में इस्लाम और इस्लामी संस्कृति को हमेशा के लिए स्थान मिला है; और इससे भारत की राष्ट्रीय संस्कृति को एक शिष्ट मार्ग प्राप्त हुआ है। यह मार्ग राष्ट्रीय भाषा में व्यक्त होना चाहिए। यह प्रयत्न मुसलमानी राज्य के उत्कर्षकाल में हुआ था। बड़े बड़े हिन्दू पण्डित अरबी और फ़ारसी भाषा का अध्ययन करके उन भाषाओं में अप्रतिम काव्य लिखते थे, और बहुतेरे मुसलमान बादशाह संस्कृत-पण्डितों को आश्रय देकर और स्वयं संस्कृत-साहित्य का अध्ययन करके हिंदू-संस्कृति का रहस्य समझने की कोशिश करते थे। इस तरह धीरे-धीरे हिन्दुस्थान की भाषा निर्माण हुई। हिन्दी और उर्दू उस भाषा के दो स्वरूप हैं। मुसलमानी राज्य में धार्मिक विरोध पूर्णता से नष्ट न हो सका—हिन्दू और मुसलमानों की रहन-सहन एक न हो सकी; और इसी कारण हिन्दी और उर्दू के बीच का भेद बना रहा। वर्त्तमान स्थिति में वह विरोध तेजी के साथ घटता जा रहा है, इसलिए सम्भव है कि थोड़े प्रयत्न से हिन्दी और उर्दू के बीच का भेद बहुत ही घट जाय। मुसलमानी सत्ता के बाद अंग्रेजी और अंग्रेजी संस्कृति का बहुत ही प्रबल प्रभाव हमपर पड़ा है, जिसके कारण हिन्दुस्थान की

सभी भाषाओं पर और जन-समुदाय की विचार-शैली पर अंग्रेजी पद्धति का प्रभाव हुआ है। वह सर्वथा अनिष्ट है, यह भी नहीं कहा जा सकता। अंग्रेजी विचार-पद्धति और अंग्रेजी ढङ्ग की वाक्य-रचना केवल आधुनिक सुशिक्षितगण की भाषा ही में दीखती है। जन-साधारण की भाषा को उसका स्पर्श नहीं हुआ। यह भी एक तरह से इष्ट ही है।

अंग्रेजों ने भारत को अपना देश नहीं बनाया है। उन्हें तो यहाँ केवल राज्यकर्ता ही के समान रहना है। उन्हें हिन्दपुत्र नहीं होना है। इसीलिए उनकी भाषा भी यहाँ कदापि बद्धमूल न होगी। जिस तरह हमपर अंग्रेजी संस्कृति का प्रभाव पड़ता है किन्तु अंग्रेज लोग हमारे साथ नहीं रहते हैं, न हमारे साथ मिलते-जुलते ही हैं, उसी तरह अंग्रेजी साहित्य और अंग्रेजों की विचार-पद्धति का प्रभाव हमपर होते हुए भी अंग्रेजी भाषा का हिन्दुस्थान में राष्ट्र-भाषा होना या बने रहना सम्भव-नीय नहीं। राष्ट्र-भाषा तो हिन्दी ही हो सकती है।

यह हुआ सामान्य सिद्धान्त; पर 'नर साँची करनी करे, तो नर का नारायण होय' इस तत्त्व के अनुसार प्रयत्न करने पर कोई भी बात अशक्य नहीं। पाश्चात्य संस्कृति और आर्य संस्कृति—इन दोनों के बीच की विषमता देखते हुए कोई यह नहीं कह सकता था कि हिन्दु-स्थान में पाश्चात्य प्रजा का राज्य होगा, किन्तु हम आँखों देखते हैं कि वही आज सत्य हो गया। इसी तरह यदि हम सोते ही रहेंगे तो पुरुषार्थी अंग्रेज लोग कालान्तर में अंग्रेजी को केवल भारत की राष्ट्रीय भाषा ही नहीं किन्तु देश की भी एक भाषा कर सकेंगे। यह मान लेने के बहुतसे प्रबल कारण पाये जाते हैं कि उनकी सचमुच यह अभिलाषा

है भी। आजतक उनकी शिक्षा-नीति इसी दिशा में अपना काम कर रही है। और वह सफल हुई है, ऐसे आनन्दोद्गार हाल ही में बड़े लाट साहब के मुख से जान-बूझकर या अनजान में निकल पड़े हैं। वे तो यह भी सुख-स्वप्न देख रहे हैं कि थोड़े ही दिनों में अंग्रेजी हमारे घरों में घुस जायगी।

अब यह विचार करना चाहिए कि आर्यों के वंशजों और आर्य-संस्कृति के अभिमानियों को ऐसा होने देना इष्ट है या नहीं? हम स्वीकार करते हैं कि अंग्रेजी राज्य से हमें कुछ लाभ पहुँचा है। इसी तरह अंग्रेजी भाषा की उपयोगिता भी हमें मान्य है। परन्तु अपने धर्म के लिए, अपनी संस्कृति के लिए, अपने पूर्वजों के नाम के लिए, और अपने वंशजों के ऐहिक और पारलौकिक कल्याण के लिए हम अपनी देश-भाषा को छोड़ नहीं सकते। हमारे राष्ट्र का प्राण—हमारी राष्ट्रीय भाषा वो हिन्दू और मुसलमानों में आज सैकड़ों वर्षों से भेद-भाव न रखनेवाली हिन्दी-भाषा ही होनी चाहिए। अंग्रेजी भाषा को राष्ट्र-भाषा के सिंहासन पर बिठाना हमारी संस्कृति को तिलाञ्जलि देने के समान है। हमारे एक भारी विद्वान की राय है कि सुशिक्षितों की सामान्य भाषा अंग्रेजी हो और अशिक्षितों की सामान्य भाषा हिन्दी। वह एक प्रौढ़ विद्वान हैं और उनका विरोध करने योग्य शक्ति मुझमें नहीं, तो भी मुझे इतना तो स्पष्ट विदित होता है कि यह बात साधारण रीति से अशक्य है—और अशक्य है, यह परमेश्वर की बड़ी ही कृपा समझनी चाहिए। यदि सुशिक्षित और अशिक्षित की भाषाओं में इतना भेद हुआ तो राष्ट्र का प्राण गया ही समझिए। यूरोप में श्रीमान

और निर्धन ऐसे भेद समाज में पड़ जाने से दोनों विभक्त हो गये। अतएव वहाँ के समाज में कैसे भयंकर उत्पात होते हैं, इसका वर्णन हम लोग पढ़ते रहते हैं। हमारे देश में सुशिक्षित और अशिक्षित के बीच में फूट होकर वह यहाँतक पहुँच जाय कि हमारी-उनकी भाषा ही भिन्न हो जाय तो कितना भयङ्कर अनर्थ होगा, इसकी कल्पनामात्र से रोमाञ्च होजाते हैं। जिस समय सुशिक्षितपन संस्कृत-भाषा के आश्रय में रहा था, उस वक्त के सुशिक्षित विद्वान समाज से भिन्न नहीं हो गये थे। अपनी संस्कृति को जन-समाज में अन्तिमान्तिम श्रेणी के मनुष्य तक पहुंचा देते थे। अंग्रेजी द्वारा शिक्षा-प्राप्त समाज आज ही प्रजा से बिछुड़ा हुआ नजर आता है। फिर भाषा-भेद हो जाने पर तो समाज का उच्छेद ही न हो जायगा ?

अंग्रेजी राज्यकर्ताओं की भाषा है और इसीलिए हमें उसे राष्ट्र-भाषा बना लेना चाहिए, ऐसा कहनेवाला भी एक दल सुशिक्षितों में है। ऐसी राय यदि अशिक्षित-दल की होती तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं मालूम होता; क्योंकि राजा तो राज्य का स्वामी है, उसकी इच्छा के अनुसार प्रजा को चलना चाहिए, यही उनकी भावना होती है। परन्तु सुशिक्षित-दल तो जानता है कि राज्य प्रजा के हित के लिए है और राजा प्रजा-हित का सेवक है। सुशिक्षितों को तो उलटा यह कहना चाहिए कि यदि राजा को अपने कर्तव्य का भलीभांति पालन करना है तो उसे प्रजा की संस्कृति के साथ एकरूप होकर प्रजा ही की भाषा में बोलना चाहिए, प्रजा ही की भाषा में विचार करना चाहिए, और प्रजा ही की भाषा में उसे स्वप्न देखने चाहिएँ। गुर्जराधिपति सयाजीराव ने

इसी तत्त्व को समझकर राष्ट्रभाषा को राजभाषा बनाया। यदि आज बड़ौदा में फिर से मराठी राजभाषा होजाय तो इसे कौन अच्छा कहेगा? इसी न्याय से सारे हिन्दुस्थान में देशी भाषा ही राजभाषा होनी चाहिए, इस राय की पुष्टि हम क्यों न करें?

देशी भाषाओं में से ही एकाध राजभाषा होनी चाहिए, इतना सिद्ध हो जाने पर हिन्दी का खास पक्षपात करने की विशेष आवश्यकता रह ही नहीं जाती। शक्याशक्य का विचार तो केवल सुशिक्षित ही करते हैं। जन-समाज ने तो इस प्रश्न का निर्णय न जाने कबसे कर रक्खा है। एक बात अभीष्ट मालूम होजाने पर उसकी शक्यता का विचार करते हुए बैठे रहना तो कायरता है। ऐसे चिन्तनों में कालयापन करना पौरुषहीन लोगों का काम है। सारे हिन्दुस्थान में ईमानदारी से द्वारपाल की नौकरी करनेवाला भी सिद्ध करता है कि हिन्दी सार्वत्रिक भाषा हो सकती है। हिन्दुस्थान के अनेक पंथों के साधुओं ने भी इस प्रश्न का निराकरण किया है। साधु चाहे बङ्गाली हो, चाहे मद्रासी, पर वह हिन्दी में ही बोलेगा। यात्रा करनेवालों का अनुभव देखने से भी हिन्दी ही राष्ट्रभाषा मालूम होती है। कैलास से रामेश्वर तक और द्वारका से कामाक्षी तक हिन्दी से भलीभाँति काम चल सकता है।

बहुतेरों का प्रश्न यह होता है कि यद्यपि हिन्दुस्थान में लोग अधिकांश हिन्दी जानते हों, तो भी राष्ट्र-भाषा के श्रेष्ठ पद को प्राप्त कर सकने के योग्य प्रौढ़ वाङ्मय उसमें कहाँ है? पर यह कहना भ्रमात्मक होगा कि हिन्दी का वाङ्मय प्रौढ़ नहीं है। प्राकृतिक वर्णन करनेवाली कवितायें लीजिए; शृङ्गार, वीर, करुणा, भक्ति या और कोई दूसरा रस

लीजिए; उन सभीमें संसार की किसी भी भाषा से हिन्दी पीछे नहीं पड़ सकती। जिस भाषा में तुलसीदासजी ने अपनी रामायण लिखी, जिस भाषा में कबीरदासजी ने भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन किया, जिस भाषा में गोपियों के साथ श्रीकृष्ण का प्रेम प्रकट हुआ, जिस भाषा में विचार-सागर जैसे वेदान्त-रत्न रचे गये, जिस भाषा में सूरदासजी का कविता-सागर उमड़ रहा है, और जिस भाषा में भूषण कवि ने गोब्राह्मण-प्रतिपालक शिवाजी के प्रताप का वर्णन किया, उसका वाङ्मय प्रौढ़ नहीं, यह कौन कहेगा? आधुनिक शास्त्रीय शोधों की पुस्तकें हिन्दी में न हों और इतिहास तथा राजनीति की मीमांसा करनेवाली पुस्तकें उसमें न हों, तो भी वह दोष उस भाषा का नहीं। हमारे मध्यकालीन जीवन का एकाङ्गी भाव ही इस स्थिति का उत्तरदाता है। हमारा जीवन व्यापक हुआ नहीं कि हिन्दी भाषा भी देखते ही देखते उस दिशा की ओर वेग से बढ़ी नहीं। जिस भाषा ने साहित्य के एक विभाग में अपनी सामर्थ्य, अपनी क्षमता और अपना उत्कर्ष प्रकट किया है, वह भाषा अन्य विभागों में लङ्गड़ी रहेगी, यह संशय ही अयुक्त है।

आधुनिक साहित्य में हिन्दी कुछ पीछे है, तो भी एक तरह से वह पिछड़ना उसकी राष्ट्र-भाषा होने की योग्यता को बढ़ाता है। उसे बङ्गाली, मराठी और गुजराती आदि सभी प्रान्तों में लोग सुगमता से अपने अनुकूल बनाकर सचमुच राष्ट्र-भाषा बना सकें, ऐसी स्थिति-स्थापक है; और आज वही प्रयत्न चल रहा है। विद्वत्तापूर्ण कितनी ही बङ्गला पुस्तकें हिन्दी में अनुवादित हो रही हैं। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय, रामकृष्ण परमहंस और रवीन्द्रनाथ ठाकुर

आदि बङ्गाली विद्वान् और साधुगण हिन्दी में वेष धारण कर हमारे साथ भाषण करने लगे हैं। महाराष्ट्र के ज्ञानेश्वर और रामदास आदि हिन्दी में उपदेश करने लगे हैं। तिलक का 'गीता-रहस्य' महाराष्ट्र के साथ ही उत्तर हिन्दुस्थान को भी मिला है। सर देसाई के अनेक वर्षों के प्रयत्नों का फल हिन्दी को एक ही अनुवाद में प्राप्त हुआ है। गुजरात की 'सरस्वतीचन्द्र' जैसी पुस्तकें भी हिन्दी-रूप धारण करके गुजरात के विद्वद्रत्नों की प्रतिभा का परिचय कराती हैं। पढ़ीआर की पुस्तकों के अनुवादों ने सामान्य हिन्दी मनुष्यों को स्वर्ग की कुञ्जी बतलाई है। महात्मा गांधी का 'आरोग्य विषयक सामान्य ज्ञान' हिन्दी वालों को भी सुलभ हो गया है। ✓ 29/8/52

यद्यपि इस प्रश्न की विशेष चर्चा महाराष्ट्र में नहीं हुई कि हिन्दुस्थान की राष्ट्र-भाषा कौनसी होनी चाहिए, तो भी महाराष्ट्र के संस्थापकों ने महाराष्ट्र के लिए उसका निराकरण कर दिया है। शिवाजी ने हिन्दी-नवरत्नों में से भूषण कवि को बुलाकर उन्हें अपना राजकवि बनाया और उन्हें कन्याकुमारी से हिमालय तक भेजकर हिन्दी को राष्ट्र-भाषा का स्थान दिया है; और इसीसे सातवलेकर, दिवेकर, सप्रे और मंगादे, पराड़कर और तामसकर, साठे और गर्दे जैसे लोग मराठी और हिन्दी की सेवा कर रहे हैं। और यह बात कुछ आजकल की नहीं। नामदेव और तुकाराम आदि साधुओं ने भी हिन्दी में पद्य-रचना की है। दरजी जाति के महाराष्ट्र साधु नामदेव की हिन्दी कविता सिख लोगों के पवित्र धर्म-ग्रन्थों में सम्मिलित की गई है।

गुजरात की ओर से मीराबाई, अखा, दयाराम और दलपतराम

आदि ने भी हिन्दी को अपना कर चुकाया है। प्रेमानन्द के पहले गुजरात में ग्रन्थों की रचना भाषा (ब्रज-भाषा) ही में हो, ऐसा माना जाता था। प्रेमानन्द के बाद गुजराती भाषा में काव्य-रचना होने लगी, तो भी हरेक प्राचीन कवि ने हिन्दी में भी अपनी लेखनी चलाई है।

यह सब तो हुई हिन्दी की सेवा। किन्तु चिरकाल से उपेक्षित और क्षीण हिन्दी को स्वाभिमान की अमृतसंजीवनी पिलाकर उसमें नवजीवन का सञ्चार करा देनेवाले धन्वन्तरि एक गुर्जरपुत्र थे, इस विचार से किस गुजराती को अभिमान उत्पन्न हुए बिना न रहेगा? स्वामी दयानन्दजी ने हिन्दी को 'आर्य-भाषा' का गौरवपूर्ण नाम देकर पञ्जाब-जैसे पिछड़े प्रान्त में भी उसकी प्रतिष्ठा की है।

इस तरह गुजराती, दक्षिणी और बङ्गाली लोगों ने हिन्दी को अपनाकर उसकी सेवा की है। अतएव उसका प्रान्तीयत्व नष्ट हो गया और शब्द-प्राचुर्य के सम्बन्ध में, वाक्य-रचना की विविधता में और विवेचन-पद्धति के सौष्ठव में वह गम्भीर, ललित, विपुलार्थ-वाहिनी और राष्ट्रीय बनती जाती है। इसीसे आज एक महाराष्ट्रीय नाटक-मण्डली कलकत्ते में जाकर हिन्दी भाषा में नाटक करके बङ्गाली रसिकों का मनोरञ्जन कर सकती है।

जिस तरह नदियाँ पर्वत से धो-धो शब्द कर बहती हुई अपनी गोद के बच्चों * को खूब दूध § पिलाती हुई अपना जल महासागर को अर्पण करती हैं, उसी तरह आज किसी भी हिन्दुस्थानी भाषा का उत्तम

---

* छोटे-छोटे टीले आदि। § पानी।

ग्रन्थ हो (फिर चाहे वह स्वतन्त्र लिखा गया हो, चाहे किसी पाश्चात्य-ग्रन्थ का अनुवाद हो) हिन्दी में उसका भाषान्तर तत्काल हो जाता है। एक ही ग्रन्थ के गुजराती, मराठी और बङ्गाली तीन स्वतन्त्र भाषान्तर सम्मुख रखकर जब हिन्दी-लेखक उसका हिन्दी में अनुवाद करता है, तब मूल-लेखक का रहस्य द्राक्षापाक के समान प्रकट होता है।

इसलिए कौनसी भाषा हिन्दुस्थान की राष्ट्र-भाषा होने के योग्य है, अथवा हिन्दी भाषा राष्ट्रभाषा होने योग्य है या नहीं, आदि कायरों को भड़का देने वाली अनन्त शङ्काओं से सिरपच्ची न करके हमें इसीका विचार मुख्यतः करना चाहिए कि हिन्दी-भाषा का प्रसार राष्ट्रभाषा के रूप में शीघ्रता से कैसे हो ? थोड़ी-बहुत हिन्दी तो हम सब समझते हैं; किन्तु आज की परिस्थिति को ध्यान में रखकर हिन्दुस्थान के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के साथ व्यवहार राष्ट्र-संघटन को अधिक दृढ़ बनानेवाली, संस्कृत-वाङ्मय की वारिस, हिन्दू-मुसलमानों को एकसमान अपनी मालूम होनेवाली और इसी देश में जन्मी हुई हिन्दी में हमें अपने हृदय के सभी तरह के उदात्त विचार और गूढ़ भाव प्रकट कर सकने का खूब प्रयत्न करना चाहिए। सबसे पहली बात यह है कि हमारे अध्ययन-क्रमों में हिन्दी का प्रवेश होना चाहिए। प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षण में हिन्दी एक आवश्यक विषय माना जाना चाहिए। इसके बाद हरेक प्रान्तवासी को राष्ट्र की सेवा के लिए अपनी भाषा के उत्कृष्ट ग्रन्थों का भाषान्तर हिन्दी में करने का प्रयत्न करना चाहिए। जब अपनी भाषा में बोलना सम्भव न हो, तब हरेक भारतवासी को अपना काम अंग्रेज़ी की अपेक्षा हिन्दी में चलाने का निश्चय करना

चाहिए। आज अखिल-भारतीय प्रश्नों की चर्चा अंग्रेज़ी में होती है, उसके बदले में वह साधारण जन-समाज की समझ में आनेयोग्य हिन्दी में होनी चाहिए। सर्वप्रान्तीय संस्थाओं को अपना काम-काज हिन्दी में करना चाहिए। उदाहरणार्थ—काशी का हिन्दू विश्व-विद्यालय, गोखले की भारत-सेवक-समिति, बङ्गलोर-स्थित ताता का शास्त्र-संशोधक विद्यापीठ, भारतवर्षीय महिला-विद्यापीठ, सकल धर्म परिषद् और राष्ट्रीय-महासभा आदि-आदि। प्रान्तीय शिक्षा के लिए स्थापित संस्थायें प्रान्तीय भाषाओं में ही शिक्षा दें; परन्तु अति उच्च शिक्षण के लिए स्थापित एवं भारतीय संस्थाओं में शिक्षण हिन्दी ही में दिया जाना चाहिए। हमारे मुसलमान और ईसाई भाइयों के हित के लिए यदि कुरान और बाइबल के अत्यन्त सरल अनुवाद हिन्दी भाषा में शीघ्रता से हो जायें तो कैसा अच्छा हो!

इतना कर लेने के बाद हम सरकार से भी प्रान्तीय शासन-कार्य में, प्रान्तीय भाषा और देश के सामान्य राज-कार्य में, हिन्दी प्रचलित करने के लिए प्रार्थना करके उसे वह करने के लिए मजबूर कर सकते हैं। महकमे जङ्गलात में, वैद्यक-विभाग में, पुरातत्त्व-विभाग में अथवा वातावरण-विज्ञान में हिन्दुस्थान के द्रव्य से जो शोध की जाती हैं, वे सब हिन्दुस्थान के किसानों और व्यापारियों के उपयोग के लिए सरकार को हिन्दी ही में छपानी चाहिएँ, इस तरह का आग्रह हम कर सकते हैं। पर इसके लिए मुस्तैदी के साथ प्रयत्न होने चाहिएँ। हाथ जोड़ कर 'यह कैसे होगा?' कहकर बैठे रहने से काम न चलेगा। करने से सब कुछ हो सकता है; प्रयत्न करने पर यश मिले बिना नहीं रह सकता।

स्वराज्य-सम्बन्धी हमारी योग्यता वाद-विवाद या शाब्दिक प्रमाण से सिद्ध करने की अपेक्षा यही उत्कृष्ट मार्ग है कि राष्ट्र-हित के जिन अत्यन्त आवश्यक कार्यों को सरकार नहीं कर रही है उन्हें अपने हाथ में लेकर पूर्ण कर दिखावें। जब सरकार हमारे कार्य को असम्भव करेगी, तब हम देख लेंगे। हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद देना, उसका प्रचार बढ़ाना, तथा उसके साहित्य में वृद्धि करना सरकार का भी काम है। यदि सरकार स्वदेशी अर्थात् राष्ट्रीय होती तो वैसा अवश्य करती। आज की सरकार वैसा नहीं करती, इसलिए स्वराज्याभिलाषियों को यह काम अपने हाथ में लेकर अपनी स्वराज्य की पात्रता सिद्ध कर देनी चाहिए। हमारी पात्रता का निर्णय सरकार करे, उसके पहले हमें स्वयं कर लेना चाहिए। हिन्दी के प्रचार-द्वारा यह काम करने के लिए यह सोनहला अवसर है। हमें यह दिखा देना है कि हम अपने निश्चय को पूरा कर सकते हैं। ऐसा करने से हमें स्व-सामर्थ्य की—सङ्कल्प-सामर्थ्य की प्रतीति होगी और इच्छित मङ्गल प्राप्त होगा।

---

(६)

भावी युग की शिक्षा

सर्व-साधारण जन भविष्य-काल को अस्पष्ट, दूरवर्ती और परदे के पीछे ढंका हुआ मानते हैं; पर यह बात सच नहीं है। भविष्य-काल भूत-काल ही में छिपकर विचरता है। वर्तमान काल में रहते हुए भी वह वर्तमान काल के नियमों से बँधा हुआ नहीं रहता।

उसके अपने भविष्य के नियम जुदे ही होते हैं। वह उसीके प्रति वफादार रहता है। आज के लड़के—हमारी गोद में खेलनेवाले बच्चे—भविष्य-काल के नागरिक हैं। इन्हें भविष्य-काल के अनुकूल शिक्षा देना हमारा काम है।

बहुतेरे मानते हैं कि शिक्षा का अर्थ है मानव-जाति की भूतकाल की कमाई के संग्रह का आथेय बनाकर बच्चों को देने की क्रिया। किन्तु यह भूल है। कई बार भूतकाल का सञ्चय बोझ-रूप हो जाता है। भूत-काल का भार उठाकर जीवन-यात्रा में प्रयाण करना चाहिए, यह बच्चों को कहना महज क्रूरता है। भूतकाल के अनुभवों को फेंक दें, यह मैं नहीं कहता। वर्त्तमानकाल भूत-काल ही से बनता है, उसीसे भविष्य काल को दृष्टि मिलती है—यह सच है; परन्तु केवल इसीलिए भूतकला को भूत की तरह भविष्य के कन्धे पर न चढ़ बैठना चाहिए। भूतकाल कितना ही चतुर और बूढ़ा हो तो भी उसमें बुढ़ापे का अन्धत्व तो आही जाया करता है। छोटे बच्चे का हाथ पकड़कर जिस तरह बूढ़े चलते हैं, उसी प्रकार इस प्राकृतिक नियमानुसार जीवन-यात्रा का अगुआपन बालक भविष्य काल के ही हाथ में होना चाहिए।

प्राचीन काल के मनुष्यों ने भविष्य-काल के प्रति इतनी श्रद्धा सर्वदा नहीं बतलाई, इसीसे कई बार मुझे यह खयाल हुआ कि ठीक हुआ जो आजतक लोगों को न सूझा कि तीन से छः वर्ष तक के कोमल बच्चों को पक्की शिक्षा दें; नहीं तो बेंत, डण्डे और क़वायद की पुरानी पद्धति में हमारी यह पीढ़ी कभी की कुचल गई होती।

भविष्य की शिक्षा भूतकाल की शिक्षा से बिलकुल ही भिन्न होती है। शिक्षा की पद्धति के विकास की जाँच करने से उसमें हमें एक स्वाभाविक विकास दीख पड़ता है। मनुष्य सबसे पहले शरीर ही को पहचानता है और शरीर के द्वारा ही सब काम लेना चाहता है। बालकों की स्मरण-शक्ति का विकास नहीं हुआ; बस, करो शरीर-दण्ड का प्रयोग। बच्चा व्याकरण के नियमों को नहीं समझ सकता; कहो, इसे रटकर मुखाग्र करे। बच्चे की अधिक कार्य करने की वृत्ति और चैतन्यता शरारत में परिणत हो जाती है; दो, इसे भूखों मरने की सजा। एक समय यही दस्तूर था। शरीर के द्वारा मन को तैयार करने के प्रयास ही के फलस्वरूप आध्यात्मिक संसार में प्राणायाम की प्रथा का आविष्कार हुआ है। श्वास को रोककर मन को रोकने की यह एक युक्ति है। देह-दण्डन अर्थात् देह को दण्ड देना इसी युग की एक दवा है। हम इस पद्धति को 'शारीरिक युग' कह सकते हैं।

फिर 'बुद्धियुग' का अवतार हुआ। 'बुद्धियुग' में तर्क पर असीम विश्वास था। गुरु और शिष्य के बीच में हुए प्रसिद्ध संवाद अभीतक लिखे हुए मिलते हैं। बुद्धि को पराजित कर देने से सर्वस्व प्राप्त होता है, यही उस समय माना जाता था। इसी कारण शिक्षा का अन्तिम आदर्श रहता था सभा जीत लेना। इन्हीं दिनों दिन-दहाड़े मशालें जलवाकर मल्लों की तरह विजयाभिलाषी विद्वान घूमते होंगे।

परन्तु अन्त में मनुष्य ने देखा कि तर्क अप्रतिष्ठित है। मनुष्य का रहस्य मस्तिष्क में नहीं, हृदय में है। राजधानी कलकत्ते में नहीं, पर दिल्ली में है। जब लोगों ने यह देखा, तब हृदय का युग आरम्भ हुआ।

इस युग में सङ्गीत और कला शिक्षा में सम्मिलित हुई। संस्कारों और विधियों का महत्त्व प्राप्त हुआ। हृदय के द्वारा ही शिक्षा दी जाय, इस तत्त्व के साथ गुरु-भक्ति और गुरुपासना आरम्भ हुई।

इसके बाद का युग है आत्मयुग। मानव-जाति इस आत्मयुग में प्रवेश करने की तैयारी कर रही है। आत्मा का स्वभाव है— स्वतन्त्रता, निर्भयता, तेजस्विता और स्वयं-स्फूर्ति। आत्मा का स्वभाव है, निर्वैरता और प्रसन्नता। जो शिक्षा इन वृत्तियों के द्वारा दी जाती है वह आध्यात्मिक शिक्षा कही जाती है। यदि बचपन ही से ऐसी शिक्षा दी जाय तो वह बच्चों के लिए बलप्रद हुए बिना नहीं रह सकती।

आध्यात्मिक शिक्षा में प्रतिस्पर्द्धा को स्थान नहीं मिल सकता, वहाँ तो सात्विक सहयोग ही हो सकता है। आत्मिक शिक्षा में डर और लोभ को जागृत करके काम नहीं लेना होता; बल्कि चैतन्य में जो स्वाभाविक उत्साह होता है, उसीके द्वारा काम लिया जाता है। आत्मिक शिक्षा में कर्मयोग प्रधान रहेगा, फिर भी उसके साथ ध्यान-योग और भक्तियोग पूर्णतया मिले हुए होंगे। इसीको थोड़े में कहना चाहें तो आत्मिक शिक्षा का अर्थ कर्म, भक्ति, ध्यान और ज्ञान का अपूर्व रसायन है।

वीरयुग में कलहवृत्ति का विकास भी शिक्षा का आदर्श रहता था। आत्मिक शिक्षा में आत्मा की स्वाभाविक निर्भयता और तेजस्विता को ही विशेष महत्त्व दिया जाता है। ऐसी शिक्षा के द्वारा ही आत्मिक युग का, अहिंसात्मक स्वराज्य का, आवाहन हो सकता है। जिन बालकों

को आत्मिक शिक्षा मिली है, वही अहिंसात्मक स्वराज्य के प्रति सम्पूर्ण श्रद्धा प्रदर्शित कर सकते हैं।

प्रेम, पवित्रता और धैर्य—ये आत्मिक शिक्षा के आधारस्वरूप हैं। शारीरिक दण्ड द्वारा ऐसी शिक्षा नहीं दी जा सकती, न विद्यार्थी को तर्क-वितर्क के जाल में पारंगत करके ही वह दी जा सकती है। तरह-तरह के विधि-विधानों से भी वह विकसित नहीं की जा सकती। गुरु केवल अनुकूल वातावरण खड़ा करे, उसमें अपनी शुद्ध वृत्ति से शुभ संस्कार और शिव संकल्प उँडेलता रहे, और बच्चों को स्वयं-स्फूर्ति से—स्वेच्छा से—उन्हें ग्रहण करने दे। 'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं, शिष्याः संछिन्नसंशयाः' इस बीज-मंत्र का अर्थ अब हम बराबर समझते हैं।

इसका यह अर्थ नहीं कि बिना गुरु के शिक्षा दी जा सकती है। आज देश में हज़ारों गरीब बच्चे—लगभग सारा देश—शिक्षा से वंचित हैं। इस स्थिति को कोई प्राकृतिक शिक्षा नहीं कह सकता। क्रूर प्रवृत्ति में आत्म-विकास की व्यवस्था नहीं है। गुरु अपनी उपस्थिति से साक्षी रहकर ही आत्मा को स्वाभाविक वातावरण प्राप्त करा देता है, आत्मा के जाग्रत होते ही स्वयं विकास का आरम्भ होता है।

राजनीति की तरह शिक्षा में भी आत्म निर्णय अथवा स्वयं-विकास का आदर्श सम्मिलित होना चाहिए। आज संसार में दो आदर्शों के बीच झगड़ा चल रहा है; एक तो साम्राज्य का आदर्श और दूसरा स्वराज्य का। साम्राज्य का आदर्श चाहता है कि शासन के समस्त सूत्र एक के ही हाथ में आ जावें। एक हुक्म करे और अन्य सब मानें; जहाँ-तहाँ एक की ही सत्ता का दौरदौरा हो; यही साम्राज्य का आदर्श

है। रावण ने इसी आदर्श का प्रयोग करके देखा था। शिक्षा में भी साम्राज्यवाद आ घुसा है। विश्वव्यापी शिक्षा का विभाग खोलकर, सर्वत्र एक ही साँचे के शिक्षित लोग उत्पन्न करना भी साम्राज्य का ही आदर्श हुआ। स्वराज्य का आदर्श इससे भिन्न है। आत्मा एक ही है और वह परमात्मा का अंश है, इसलिए शिक्षा का उद्देश्य सभी जगह एकसा हो; पर आत्मा प्रत्येक मनुष्य में पृथक्-पृथक् रूप से प्रस्फुटित होता है, अतएव प्रत्येक को स्वतंत्र रीति से अपना विकास करने देना ही स्वराज्य का आदर्श है।

सच बात तो यह है कि हम भविष्य के शिक्षकों को अब भी ठीक तरह से नहीं समझ पाये। भविष्य का शिक्षक पुराने पंडितजी नहीं बल्कि प्रजा का गुरु है। आज राजनीति और समाज का नेतृत्व चाहे किसीके हाथ में हो, पर भविष्य में बच्चों की मनोरचना को बनाने-वाले अध्यापक ही समाज के नेता और राजनैतिक अगुआ होंगे। क्यों-कि भविष्य का अध्यापक जितना मानसशास्त्री होगा उतना ही समाज-शास्त्री भी होगा। समाज के हरेक अंग और प्रत्यंग के प्रति उसकी ज्ञानपूर्ण सहानुभूति होगी और प्राचीन काल के दीर्घदृष्टा ब्राह्मणों ने समाज में जिस स्थान को प्राप्त किया था उसीको भविष्य के अध्यापक और उनकी शिक्षण-संस्थायें प्राप्त करेंगी। सच्चा ब्राह्मण राजा के शासन से भी परे रहता है, उसीतरह शिक्षण-संस्थायें भी स्वतंत्र रहनी चाहिएँ। ब्राह्मण को दान देकर जैसे नमस्कार करने की प्रथा है, उसी तरह आज भी धनी लोगों को श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक शिक्षण-संस्थाओं की सहायता करनी चाहिए और अपनेको धन का सद्व्यय करने का

अवसर देने के लिए सर्वदा अध्यापकगण का ऋणी रहना चाहिए। अध्यापकगण जितना ही समाज का विश्वास संपादन करेंगे और समाज उन्हें जितनी ही स्वतंत्रता देगा, उनकी शिक्षा उतनी ही सजीव—प्राणवान—होगी। अश्रद्धाशील बनकर यदि समाज अध्यापकों पर आतंक जमाना चाहेगा तो निस्सन्देह उनकी शिक्षा भी निष्प्राण होगी।

---

(७)

शिक्षकों को सन्देश

बहुतेरे शिक्षक मानते हैं कि हम उदर-निर्वाह के लिए शिक्षक का पेशा करते हैं। उदर-निर्वाह हरेक मनुष्य को करना पड़ता है। राजा को भी उदर-निर्वाह करना पड़ता है और संन्यासी को भी। यदि मनुष्य धनवान् न हो तो वह जो काम करता है उसीके द्वारा प्रायः उसे आजीविका सम्पादन करनी पड़ती है, यह बात भी सत्य है। किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि हम वह काम उदर-निर्वाह के लिए करते हैं। जो मनुष्य केवल उदर-निर्वाह के लिए ही काम करता है, वह थोड़ी-से-थोड़ी भी महनत करके ऐसे ही उद्योग को पसन्द करेगा जिससे उसका उदर-निर्वाह भलीभांति हो जाय। चोरी और ठगी, ये उद्योग भी उदर निर्वाह के लिए हैं तो अवश्य; किन्तु जब हम नीति का विचार करते हैं तो धन्धा पसन्द करने में उदर निर्वाह के सिवा दूसरे किसी तत्त्व को भी शामिल करते हैं।

यह जानने पर भी कि अमुक उद्योग करने से अनायास अधिक द्रव्य मिल सकेगा, हम नहीं करते। हम हम कहते हैं कि—'हां, उसमें लाभ तो है; किन्तु वह उद्योग हमें पसन्द नहीं।' इस उत्तर में हम अस्पष्ट रीति से कर्त्तव्य का भाव, समाज-सेवा का तत्व अथवा ईश्वरीय आदेश का तत्त्व सम्मिलित करते हैं। पुराने लोग यही कहते थे कि, 'गुजर-बसर तो किसी-न-किसी तरह होती ही रहेगी, परन्तु ऋषि-मुनियों ने जो उद्योग हमारे पूर्वजों को बतलाया है, हमें वही करना चाहिए।' इससे यही मालूम होता है कि हम जो उद्योग करते हैं वह धर्म-पालन के लिए करते हैं यह भाव हमसे पुराने लोगों मे अधिक था और इसी से वे जो उद्योग करते थे वह धर्म का अनुसरण करके जितना हो सकता था उतना ही करते थे। धर्म का त्याग करके यदि कुछ भी लाभ होता हो तो उसे अभक्ष्य भक्षण समझना और उसका त्याग करना, यह तो सभी स्वीकार करते हैं; परन्तु धर्महानि से होनेवाले लाभ को ठुकरा देने योग्य निश्चय-बल, धर्मविहीन शिक्षा के कारण, हममें से बहुत कुछ घट गया है। जो धर्म के अनुकूल हो, उसीको पसन्द करने की हमारी शक्ति घट गई है। इसके विपरीत यह सिद्ध करने के लिए हम अपनी बुद्धि-शक्ति खर्च करने लगे कि धर्म वही है जो हमें प्रिय लगता है। हमने यह देखा है कि अधर्म-आचरण करने की अपेक्षा प्राण-त्याग तक कर देना बहुत अच्छा है। यह भाव हमारे देश के असाधारण साधुओं में ही नहीं, किन्तु सामान्य मनुष्यों में भी बहुत था; धर्म के लिए चाहे जितनी कठिनाइयाँ झेलने की क्षमता हमारी स्त्रियां अब भी बतलाती हैं। यह शक्ति हमारा राष्ट्रीय द्रव्य था, यही हमारा प्राण

था। यदि हम इसे गँवा बैठे तो हमारी तर्क-शक्ति, हमारी रसिकता और हमारी सहिष्णुता का मूल्य एक कौड़ी भी नहीं रहा।

आजकल हम जो शिक्षा लेते या देते हैं उसमें धर्म, देशसेवा और आत्म-बलिदान के पाठ न हों सो बात नहीं; किन्तु उससे अभीष्ट वृत्ति तैयार नहीं होती। धर्म के लिए आत्म-बलिदान करने की भावना तैयार होने योग्य वातावरण ही हम कहीं नहीं देखते। न वह शिक्षकों में है, न माता-पिताओं में; फिर विद्यार्थियों में तो वह आवेगा ही कहाँ से?

मैं यह नहीं कहता कि आत्म-बलिदान की वृत्ति समाज में से नष्ट हो गई है। इतने हज़ारो वर्षों तक हमारे ऋषियों ने जो तपस्या की है, वह नष्ट नहीं हो सकती; किन्तु सच्ची शिक्षा के अभाव के कारण धर्म-वृत्ति के ऊपर गर्द जम गई है। मैं यह भी नहीं कहना चाहता कि यह दोष शुद्ध अंग्रेजी शिक्षा में है। क्योंकि यूरोप की प्रजा, इंग्लैण्ड की प्रजा, आसुरी वृत्ति की होने पर भी उसके भीतर आत्म-बलिदान की वृत्ति खूब विकसित होती है। परन्तु जब यहाँ पर अंग्रेजी शिक्षा पहुंची, जब अंग्रेजी राज्य यहाँ आया, तब देश में अधर्म, स्वार्थभाव और सुख की लालसा बहुत ही बढ़ गई थी। उसी भाव को उत्तेजना देकर अंग्रेजों ने अपना राज्य यहां स्थिर किया। यदि ऐसा न होता तो पूना में जब पेशवाई नष्ट हुई, उस वक्त उसके आनन्दोपलक्ष्य में एलफिंस्टन साहब ने जो दक्षिणा बाँटी, उसे पूना और नासिक के ब्राह्मण कैसे लेते? अंग्रेजी शिक्षा से बड़ी-बड़ी नौकरियाँ मिलती हैं, द्रव्य सम्पादन करके स्वयं ऐश-आराम कर सकते हैं, और हाथ में जो कुछ थोड़ा अधिकार आता है उससे हम समाज की भी अवहेलना करके मनमाना आचरण

कर सकते हैं। ये भावनायें उस वक्त से जो हम लोगों में घुस पड़ी है सो अभीतक थोड़ी बहुत मात्रा में बनी हुई हैं। इसी वृत्ति के बदौलत हम परतन्त्र हुए और जबतक यह वृत्ति रहेगी तबतक हम परतन्त्र ही रहेंगे।

अंग्रेजी शिक्षा के कारण दूसरी एक और खराबी हमारे अन्दर घुस गई है। अंग्रेजी राज्य के पहले हम शिक्षकों को गुरुजी कहते थे। विद्यार्थियों के नैतिक और धार्मिक आचरण पर शिक्षकों की दृष्टि रहती थी और शिक्षक भी पक्के धर्मनिष्ठ रहते थे। अंग्रेज सरकार ने उदार-भाव बतलाकर धर्म के बारे में जो उदासीनता रक्खी, इसीसे हमारे शिक्षक भी धर्म सम्बन्ध में उदासीन हो गये—अपने आचरण में भी और अध्यापन में भी। अब तो अंग्रेजी शिक्षक के द्वारा जो सुखोपभोग और प्रतिष्ठा प्राप्त करने की हम लोग आशा रखते थे, उसका सौवाँ हिस्सा भी न रहा; फिर भी सरकारी शिक्षा और सरकारी नौकरी का मोह जैसा था वैसा ही बना हुआ है और स्वार्थ-त्याग की भावना दिन-दिन लुप्त होती जाती है। इस स्थिति से निकल जाने का मार्ग प्रजा को बताना शिक्षकों का ही काम है। शिक्षक ही तरुण पीढ़ी के और इस कारण प्रजा के स्वाभाविक गुरु हैं। उन्हें सबसे पहले जागृत होना चाहिए और दूसरों को भी जगाना चाहिए।

स्वाभाविक रीति से ही शिक्षकों का उच्च विचार के साथ परिचय होता है। उच्च साहित्य का अर्थ करके दिखाना ही सदा उनका काम होता है। उन्हें देश-देशान्तर का इतिहास पढ़ना पड़ता है। नीति-शिक्षण के साथ कितने ही अंशों में धर्म की चर्चा करनी पड़ती है। क्या

स्वयं उनके ऊपर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता ? हम पुराने पुराणिकों की तो हँसी उड़ाते हैं कि 'पोथी के बैंगन पोथी में' ही की तरह उनकी हालत होती है। हम इस वृत्ति से मुक्त हैं या नहीं, यह हमें जानना चाहिए। हमारा आचरण तेजयुक्त है या तेजविहीन, इसका विचार हरेक शिक्षक को करना चाहिए। शिक्षको का व्यवसाय अत्यंत पवित्र है। जो आदर्श ब्राह्मणों के लिए बनाया गया है, वही शिक्षको का भी है। अतएव उनके लिए सबसे अधिक आवश्यक वस्तु तो है—पवित्रता। सरकार की खुशामद से वेतन की वृद्धि होती हो तो उसे शिक्षकों को हराम समझना चाहिए। सरकार को प्रसन्न करने के लिए हमें प्रजा को तेजोहीन और पामर कदापि न बनाना चाहिए। जिस समाज की हम सेवा करते हैं, वह हमारा है; और सरकार परकीय है। समाज का नमक खाकर हमें समाज को दग़ा हर्गिज न देना चाहिए।

शिक्षक को यह छान बीन करने की आज भारी आवश्यकता उत्पन्न हो गई है कि हमारा धर्म क्या है ? युद्ध में विजय मिलने से हमारी सरकार लापर्वाह और उन्मत्त हो गई है। वह न्याय और अन्याय को भूल गई है, और मध्य-एशिया में अपना राज्य बढ़ाने की युक्तियाँ भिड़ाने लगी है तथा हमपर भी अपनी सत्ता को अधिकाधिक दृढ़ करना चाहती है। न्याय अथवा प्रजा की भावना—दो में से एक की भी पर्वाह सरकार नहीं करती। वे लोग भी अब निराश हो गये हैं, जो सर्वदा सरकार के साथ मिल-जुलकर काम करते थे, जिनकी सरकार पर अपार श्रद्धा थी और सरकार भी जिनपर विश्वास बतलाती थी। हमारे विचारशील नेता अब सरकार के साथ सहयोग करने में बदनामी

समझते हैं। शिक्षको ! ऐसे समय हम शिक्षक लोगों का क्या कर्त्तव्य है ? हम लोग राजनीति में प्रत्यक्ष भाग नहीं लेते, क्योंकि राजनीति से भी बड़ा काम हमने हाथों में ले रक्खा है; परन्तु क्या इससे हम अपना धर्म भूल जायँगे ? क्या इससे समाज का नेतृत्व—गुरुपद—हम छोड़ देंगे ? धन की दृष्टि से हम गरीबी में रहते हैं, पर क्या इसीके कारण हम दूसरे से हीन—पामर—हैं ? सरकार जबतक न्याय से चलती थी तबतक उसके पास से आजीविका लेकर समाज की सेवा करने में सम्मान था। जब सरकार ने अपना धर्म और प्रजा की आवश्यकता का विचार त्याग दिया है, तब भी यदि हम नौकरी का मोह न छोड़ें तो मनु भगवान के कथनानुसार हमारी नौकरी श्वान-वृत्ति कही जायगी।

शिक्षकों के लिए सरकारी नौकरी का त्याग करना सरल-से-सरल काम होना चाहिए, क्योंकि आज भी वे कम-से-कम वेतन लेकर समाज की भारी-से-भारी सेवा कर रहे हैं। सरकारी नौकरी छोड़कर उसी गाँव में उन्हीं लड़कों को पढ़ाने के लिए यदि वे खानगी पाठशाला खोल दें तो उन्हें कम वेतन न मिलेगा। सरकार भी तो आज हमें पेट भर कहाँ देती है ? यदि हम सरकार की नौकरी से हटकर प्रजा के सेवक बन जावें तो उसमें हम कुछ भी न गँवायेंगे। सभी तरह से देखें तो इसमें सिवा लाभ के हानि है ही नहीं। बड़ी बात तो यह है कि समाज में हमारी प्रतिष्ठा बढ़ेगी। अब प्रजा समझने लगी है। लोग सरकारी नौकर की अपेक्षा प्रजासेवक का अधिक मान करते हैं। प्रतिष्ठा और मान की वृद्धि से हमारा कर्त्तव्य-ज्ञान भी अधिक जागृत होगा। हमारी बुद्धि और शक्ति भी प्रदीप्त हो जायगी, हमारे लड़कों को भी अच्छी

शिक्षा मिलेगी, और हम समाज के नेता की हैसियत से अपना कर्त्तव्य बराबर पालन कर सकेंगे। 'बेचारा स्कूलमास्टर' या 'बेचारा स्कूल-मास्टर का लड़का' इस तरह के शब्द सुनने का तो प्रसङ्ग फिर न आवेगा।

यह सब तभी हो सकता है, जब कि हम यह बतला दें कि हमारा ज्ञान तेजस्वी है। जनता स्वतन्त्रता के हक़ प्राप्त करने के लिए कटि-बद्ध हो गई है। प्रजा को अब स्वतन्त्र शिक्षा की आवश्यकता है। यदि हम नौकरी के लाभ से प्रजा के पुरुषार्थ में भाग न लेंगे तो प्रजा दूसरे शिक्षक खोज लेगी। ईश्वर का आदेश है, अतएव प्रजा का उत्थान तो होगा और फिर होगा। किन्तु साथ ही इतिहास में लिखा जायगा कि जब लोगों ने स्वराज्य प्राप्त करने के लिए भगीरथ प्रयत्न किया, तब पतितों में पतित दल हमारा—शिक्षकों का—था। हमने अपना ज्ञान बेच खाया था, अतः प्रजा के अगुआओं को नया ही शिक्षक-वर्ग निर्माण करना पड़ा।

पुराने समय में भी शिक्षकों को वेतन अधिक नहीं मिलता था, परन्तु शिक्षक जहाँ जाता था वहाँ सम्मान और प्रेम के साथ उसका स्वागत किया जाता था। गाँव के लोग उसकी सब प्रकार की सुविधा की चिन्ता रखते थे। विद्यार्थी उसकी सेवा करने में अपनेको कृतार्थ मानते थे और धार्मिक भाव से शिक्षा का कार्य करके शिक्षक अध्या-पक की पदवी प्राप्त कर लेता था। धार्मिक कर्त्तव्य समझकर अपना आचरण उज्ज्वल रखते हुए समाज के गुरु-स्थान पर आरूढ़ हो जो अध्यापन का कार्य करता था वही अध्यापक होता था।

यदि हम फिर वैसी ही वृत्ति धारण करेंगे तो भावी इतिहास में लिखा जायगा कि स्वराज्य-सूर्य के उदय होने से पहले सबसे पहले शिक्षक जागे; उन्होंने अज्ञान-पटल को भेद कर दूसरों को जगाया और राष्ट्रीय महोत्सव में सबसे आगे रहे। अब बतलाइए कि भविष्य के इतिहास में हम क्या लिखवाना चाहते हैं?

---

(८)

शिक्षकों को सन्देश

२

मनुष्य अपनी ही शक्ति के अनुसार कार्य करता है; पर कितने ही काम ऐसे होते हैं कि जिनको करने के लिए मनुष्य को हर तरह से पर्याप्त शक्ति-सम्पादन करना अनिवार्य होता है। ऐसा एक काम शिक्षा है; अथवा यों कहना चाहिए कि शिक्षा का काम दिन-प्रतिदिन वैसा होता जा रहा है। पुराने समय में जब कि कुछ निश्चित सामाजिक व्यवस्था थी, चाहे वह भली हो या बुरी, तब शिक्षक का काम सरल था। समाज शाला से जिस चीज़ की अपेक्षा करता था, वह थोड़ी सादी और निश्चित थी। प्रचलित समाज-व्यवस्था को क़ायम रखना और विद्यार्थियों को लिखना-पढ़ना सिखाना, यही शिक्षक का काम था। धार्मिक आचार-विचार का ज्ञान और पालन तथा माता-पिता स्वामी गुरु के प्रति आदरभाव उत्पन्न करने के लिए शिक्षक लोग अपनी इच्छा से प्रयत्न करते थे। उस ज़माने में यह काम सुगम था।

पर आजकल तो यही सबसे अधिक दुष्कर वस्तु हो गई है। क्योंकि आज दिन सामाजिक और धार्मिक आदर्श के सम्बन्ध में अराजकता, अव्यवस्था और अनवस्था है।

जब अंग्रेजी सरकार ने शिक्षा का काम अपने हाथ में लिया, तब भी शिक्षकों का कार्य सुगम था; क्योंकि उस जमाने में शिक्षा का उद्देश्य बहुत संकुचित था—हम लोगों की दृष्टि से अत्यन्त ही संकुचित था। परकीय लोगों का राज्य हुआ है, यदि उनकी भाषा सीख लेंगे तो अच्छी नौकरी मिल जायगी; फिर अंग्रेज लोग वाणिज्य-वृत्ति वाले हैं, उनके साथ व्यापार भी करना ही पड़ेगा, वहां भी यदि अंग्रेज़ी बोलना जानते हों तो अधिक मुनाफ़ा प्राप्त कर सकेंगे; बस, यही हमारा उद्देश्य था। अब भी बहुतेरे लोग इसी उद्देश्य से अंग्रेज़ी शिक्षा लेते हैं।

अब सरकार के उद्देश्य की छानबीन करनी चाहिए। अपनी राज्य-पद्धति के अच्छी तरह अमल में लाने लायक़ अंग्रेज़ी जाननेवाले नौकरों की आवश्यकता प्रारम्भ में सरकार को थी। इसी उद्देश्य से सरकार ने यहाँ शिक्षा आरम्भ की। परन्तु पीछे सरकार ने शिक्षा की वृद्धि अधिक व्यापक उद्देश्य से की है। राजा और प्रजा में जितनी एकता हो उतना ही राज्यकार्य सरल होता है। इसलिए या तो राज्यकर्ता को प्रजा के सामाजिक आदर्श और उनकी मनोरचना के साथ मिलकर एकरूप हो जाना चाहिए, या फिर प्रजा को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि प्रजा का जीवन-आदर्श, उसकी मनोरचना, विचार-पद्धति शासकों के अनुकूल हो जाय। सरकार ने यह दूसरा उद्देश्य ही पसन्द किया और उसीका

अनुसरण भी किया, इसमें न तो किसी तरह की शङ्का है और न आश्चर्य।

अब हम स्वराज्य माँगते हैं। इसका यही अर्थ हुआ कि सरकार इस दूसरे उद्देश्य के स्थान में पहला उद्देश्य दृष्टि के सन्मुख रक्खे और उसीके अनुसार राज्य-कार्य में परिवर्तन करदे। अब प्रजा जग गई है और संसार के साथ हिन्दुस्थान को भी युगान्तर (Reconstruction) करने का प्रसङ्ग प्राप्त हुआ है। अतः अब शिक्षकों का काम बहुत ही कठिन और महत्त्वपूर्ण हो गया है—फिर वह शिक्षक चाहे कालेज के प्रोफेसर हों, चाहे देहाती स्कूल के पण्डितजी, ट्रेण्ड हों या अनट्रेण्ड, कन्या-पाठशालाओं के हों या अन्त्यज-पाठशालाओं के। आज शिक्षा का उद्देश्य इतना ही नहीं रहा कि लड़के पढ़ना और लिखना सीख लें तथा सवाल लगा लें। केवल अंग्रेज़ी समझ लें और और बोलने लग जायँ सो भी नहीं। मनमाना व्यवसाय करके द्रव्योपार्जन कर लेवें, इतना पढ़ने से भी काम नहीं चलेगा। आज तो देश में राजकीय, सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति हो रही है। ऐसे अवसर पर देश में जो राजकीय, सामाजिक और आर्थिक आदि तरह-तरह की हलचलें हो रही हैं, उनके साथ बिना बहते हुए इन सभी विषयों में होनेवाले युगान्तर के साथ शिक्षक को परिपूर्ण सहानुभूति होनी चाहिए। यदि अपने पुराने-से-पुराने आदर्शों का वर्त्तमान परिस्थिति के साथ सुमधुर सम्मिश्रण न किया जायगा तो यह सम्पूर्ण शिक्षा व्यर्थ होगी।

हिन्दू-समाज की रचना ऐसी है कि गुरु अथवा शिक्षक पुराने काल से समाज का नेता माना गया है। अंग्रेजी राज्य में स्कूल मास्टर

ने यह स्थान गँवा दिया था। इसका कारण यही था कि स्कूल-मास्टर ने शिक्षा का ध्येय बहुत ही क्षुद्र माना था और अपने जीवन-ध्येय को भी उसने बहुत उदात्त नहीं बनाया था। अब ऐसा नहीं चल सकता। हरेक शिक्षक को समझ लेना चाहिए कि समाज का नेतृत्व हमारा अधिकार और धर्म है। हजार कोशिश करके भी शिक्षक को इस स्थान का पात्र अपने को बना लेना चाहिए। समाज-धर्म और संसार की वर्त्तमान साम्पत्तिक अवस्था और साथ ही संसार की राजनीति के साथ भी शिक्षकों का पूर्ण परिचय होना चाहिए। देश की संस्कृति के संरक्षक राष्ट्रीय अगुआओं ने हरेक विषय पर किस तरह के विचार स्थिर किये हैं, यह भी प्रत्येक शिक्षक को थोड़ा-बहुत अवश्य जानना चाहिए। इसके बाद शिक्षक की इतनी तपस्या भी होनी चाहिए कि जिससे समाज उसके नेतृत्व को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करले।

हमारे देश में समाज राजबल और तपोबल इन दो ही बलों को पहचानता है, और खासकर तपोबल की प्रतिष्ठा को वह विशेष मानता है। यह हमारे समाज की विशेषता है। मनुष्य जितना ही वासना के कम अधीन हो, उसका जीवन जितना सादा और जितना संयत हो, उतनी ही उसकी तपस्या भी श्रेष्ठ है। स्वार्थ और विलास के मोह जाल से मनुष्य जितना ही मुक्त हो, उतना ही वह तपस्वी होता है। हमारे समाज की यही मान्यता है।

ज्ञान और तपस्या इन दोनों का संयोग ही ऐश्वर्य है। यह ऐश्वर्य हरेक शिक्षक के पास होना ज़रूरी है। पुरानी सामाजिक व्यवस्था, पुरानी आर्थिक व्यवस्था और पुरानी राजनीति अब काम नहीं

दे सकती। इन तीनों विषयों में समाज को नया रास्ता बतलाना ही होगा। कई लोग कहते हैं कि शङ्कराचार्य जैसे प्रतिभाशाली स्मृतिकार को ही सामाजिक रीति, आचार और आदर्श में परिवर्तन करने का अधिकार होता है; जबतक ऐसा पुरुष अवतार नहीं लेता, हमें पुराना ही संग्रह बनाये रखना चाहिए। मैं कहता हूँ, यदि ऐसा हो तो बलिहारी है। पर हम प्राचीन बातों को स्थिर कहां रख सके? पुरानी प्रथा का प्राण तो कभी का चला गया है; ऊपर का कलेवर अथवा शव अलबत्ते किसी-किसी जगह रह गया है। पर वह भी सड़ रहा है, क्या उसकी दुर्गन्ध नहीं आती? भाइयो, अब इस अल्पप्राण श्रद्धा को फेंक दो। तुम्हीं नये स्मृतिकार बनो, कम-से-कम नये ज़माने के नये स्मृतिकारों को ढूँढ तो ज़रूर लो और श्रद्धा से उनका अनुसरण करो। मैं नहीं कहता कि वर्तमान काल के सभी नेता स्मृतिकार हैं। जिन्होंने भारतीय संस्कृति की आत्मा को पहचाना है, जो प्राणवान हैं, जो इस समय की निर्बल दशा में भी राष्ट्र की सोई हुई शक्ति पर श्रद्धा रखते हैं, और जो उसे जागृत करने के लिए प्रयत्न करते हैं, वही हमारे स्मृतिकार हैं। उनकी सूचित स्मृति को स्वीकार करो, नहीं तो जीवन-कलह की नास्तिक स्मृति अपना साम्राज्य स्थापित करेगी। अर्थशास्त्र की निघृ'ण स्मृति जारी हो जायगी—हो क्या जायगी, होने लग गई है। धर्म का लोप हो रहा है, असुर-वृत्ति की विजय हो रही है। देवों को सहायता देने के लिए कटिबद्ध हो आओ; भविष्य शिक्षकों के हाथ में है।

'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।'

इस पुराने स्मृति-वाक्य को नये सिरे से लिखो और कहो,

'प्रजानां शिक्षको गुरुः।'

शास्त्र में ऐसा लिखा है अथवा सरकारी कानून ऐसा है, इस तरह की भाषा तुम्हारे मुख में शोभा नहीं देती। प्रजा का हित किसमें है और मोक्ष का मार्ग कौनसा है, यह प्रजा को अपनी अथवा अपने अगुआओं की अधिकारयुक्त वाणी द्वारा बतलाओ। देहात में रहनेवाले देहाती शिक्षको! तुम्हारे लिए भी यही सन्देश है। तुम्हें पेट के लिए काफी मिलता नहीं, देहात में भी सरकारी अधिकारीगण तुम्हारी प्रतिष्ठा स्थिर नहीं होने देते, यह मैं जानता हूँ; तो भी, यह सब सहन करके, तुम्हें अपना उच्च कार्य पूरा करना चाहिए। स्वराज्यवादियों से मैं कहता हूँ—यदि तुम्हें सच्चा स्वराज्य दरकार हो, स्वराज्य का सन्देश घर-घर पहुँचाना हो, तो शिक्षकों की दैन्यावस्था को दूर करो। शिक्षकों को धन-लोभ न रखना चाहिए, उनका जीवन सादा होना चाहिए, यह बात सच है; पर साथ ही यह भी उतना ही सच है कि उन्हें पेट के लिए काफी रकम ज़रूर मिलनी चाहिए, अन्यथा शिक्षकों में पामरता प्रविष्ट हो जायगी। इसलिए ऐसी व्यवस्था जहाँतक हो अति शीघ्र करो कि जिससे शिक्षकों को उदर-निर्वाह के लिए पर्याप्त द्रव्य मिल सके। देश के राष्ट्रीय अगुआओं को चाहिए कि वे भारतीय संस्कृति का राजकीय, सामाजिक, धार्मिक, अन्तर्धार्मिक और औद्योगिक आदर्श क्या है और वर्तमान समय में किस तरह उसपर अमल किया जा सकता है, यह सब स्पष्ट करके बतलावें। इससे शिक्षक समाज को उचित राह की ओर ले जावेंगे। आज का यह युद्ध विराट है। यह इतना उदात्त है कि

भारतीय संस्कृति कायम रही तो वह विश्वविजयिनी होगी। शिक्षक हमारे सैनिक हैं। शिक्षक यदि अपने इस कार्य को समझ लेंगे तो तुरन्त ही अपने जीवन को धार्मिक बनायेंगे। शिक्षकों का जीवन धार्मिक होने पर ही हिन्दुस्थान का या संसार का उद्धार निर्भर है।

---

(९)

विद्यार्थी-वर्ग को

एक मनुष्य अंधेरी रात में जंगल में चलते-चलते एक कराड़ के ऊपर से नीचे गिर पड़ा। सर्वनाश हो गया जानकर वह मूर्च्छित-सा हो गया। इतने में कराड़ पर एक ओर उगे एक पेड़ की डाल उसके हाथ में आ गई। उसे पकड़कर वह लटकता रहा। डाल में कांटे थे, और वे उसके चुभते थे। डाल पर की चींटियाँ उसे काटती थीं। किन्तु वह सोचता—'यदि मैं इस डाल को छोड़ दूँगा तो फिर नीचे न-जाने कितने गहरे गड्ढे में जाकर गिरना होगा,' और निश्चय करता कि इन सब क्लेशों को सहकर टँगे रहने में ही कुशल है। लग-भग सारी रात उसने इसी तरह बिताई। अन्त में उसे हाथ की वेदना असह्य हुई और देह की सम्पूर्ण शक्ति समाप्त होगई-सी मालूम हुई। 'अब तो मैं अवश्य ही मरा'—यह खयाल आते ही हाथ डाल से छूट गई और वह गिर पड़ा; पर कितना? ठीक एक हाथ भर! हाथ ही भर पर जमीन थी। उसने सारी रात व्यर्थ ही दुःख उठाया!

सरकारी शिक्षा छोड़ देने से हमारा सर्वनाश हो जायगा, ऐसा मानकर हमारे नवयुवक राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को खोकर शिक्षा ले रहे हैं

और उनसे होनेवाली सभी हानियों को सह रहे हैं। देश पर विश्वास रख कर, राष्ट्रीय नेताओं के शब्दों पर विश्वास रखकर, परम-मङ्गल परमेश्वर के ऊपर दृढ़ विश्वास रखकर, वे यदि इस प्राण-हारी शिक्षा को छोड़ देंगे तो एक हाथ पर—एक ही हाथ पर—स्वराज्य और सुख रक्खा हुआ है। आज सरकारी शिक्षा से हमें क्या मिलता है ? कितने ही को—बहुत ही थोड़ों को—अच्छी सरकारी नौकरी। दूसरे थोड़ों का अदालतों में जाकर लोगों को लड़ा देने का व्यवसाय चलता है। बाक़ी के सब अपनी डिग्री-पदवी हाथ में लेकर चाहे जिस भाव उसे भुना लेने को घूमते हैं और अन्त में अपनेको नीलाम के भाव जाने देते हैं। अनपढ़ दैनिक मज़ूर को जितना मिल जाता है, उतना मैट्रिक-पास को नहीं। मामूली राज या बढ़ई को जितना मिल जाता है उतना प्राप्त करने में डिग्री वाले के सफ़ेद बाल हो जाते हैं। यह तो हुई आर्थिक स्थिति की बात। इन शिक्षितों की तन्दुरुस्ती की तो बात ही क्या कहें ? सवेरे के वक्त डाक्टर के घर छः आने देकर चौबीस घण्टों के लिए 'जीने का परवाना' प्राप्त किये बिना दुनिया के परदे पर घूमने-फिरने तक की इनके लिए रुकावट ! बाक़ी रही संस्कारिकता की बात। शिक्षा से अपनी दृष्टि विशाल और उदार होती है, देश-विदेश की स्थिति समझने में आती है, स्वदेश के प्रति कर्तव्य का ज्ञान होता है, समाज-सुधार करने की हिम्मत आती है—इसी तरह की बातें अपने शिक्षितवर्ग और उनके कहने से दूसरे भी इतने दिन तक मानते रहे। परन्तु सम्पत्तिशास्त्र को पढ़ लेने पर भी हिन्दुस्थान की सम्पत्ति में शिक्षित-वर्ग एक कौड़ी भी न बढ़ा सका। धर्म और नीति

की मीमांसा पढ़ लेने पर भी अन्याय का सामना करने की नीतिमत्ता या चरित्र-बल उस वर्ग ने नहीं प्रदान किया। समाज-बन्धन का महत्त्व जानते हुए भी समाज में प्रवेश करके, समाज की एकता सम्पादन करके, समाज को उच्च पद पर चढ़ाने का कोई प्रयत्न उनके हाथ से नहीं हुआ। अंग्रेज़ी राज्य स्थिर रखने में अपनी प्रतिष्ठा, अपनी नीतिमत्ता, अपना धर्म और संस्कृति आदि सभी की आहुति देने के लिए वे ही सबसे पहले और सबसे अधिक तैयार होते हैं। पिछले तीस-चालीस वर्षों का हमारा पुरुषार्थ सामाजिक बन्धन तोड़कर समाज को विशृङ्खल करने में और सरकारी बन्धनों को दृढ़तर करने में खर्च हुआ है। बुद्धि-पूर्वक हो या अन्ध-भक्ति से हो, पर हमारा जन-समूह अपनी सादगी, उद्योग और संयम की रक्षा करता रहा। हम शिक्षितों ने पहले संयम छोड़ा। विलास की जितनी चीजें विलायत से आईं, उनको अंगीकार करने में ही हमने नीतिबल बताया और माना। इस तरह हम समाज को बिगाड़ने का कारण बने। धर्म का बन्धन घटा कर कानूनों के ऊपर हम अधिक आधार रखने लगे। देशी कारीगरों को भूखों मारकर विलायती कारखानों के हम वफादार ग्राहक बने। इस तरह कहाँतक गिनती लगावें ? अब प्रायश्चित्त करने का प्रसङ्ग आया है। यदि हम सच्चे दिल से प्रायश्चित्त करेंगे तो अब भी उद्धार का मार्ग खुला है। जो पाश्चात्य संस्कृति के पञ्जे में जा फँसे हैं; उन्हें नौ महीने में स्वराज्य प्राप्त कर लेना अशक्य मालूम होता है, पर वे यह नहीं जानते कि सारा राष्ट्र उनके समान बिगड़ा हुआ नहीं है। वह मोह-निद्रा में सोया है। उसे जगाने में देर न लगेगी। सोया हुआ नीरोग

मनुष्य और जागता हुआ रोगी मनुष्य इन दोनों में जितना अन्तर है, उतना ही अन्तर जन-साधारण और पढ़े-लिखे के बीच है।

पढ़े-लिखे समुदाय को प्रायश्चित्त करना चाहिए और आज-पर्यन्त उसे मिले समाज के नेतृत्व को सार्थक और सुशोभित करना चाहिए। यदि वे ऐसा न करेंगे तो दूसरे अधिक श्रद्धा वाले, अधिक प्राण वाले अगुआ आगे बढ़ेंगे—बढ़े बिना न रहेंगे। ईश्वर ही की इच्छा है कि यह सनातन राष्ट्र संसार को दुर्दशा से उबारे और इस ईश्वर-निर्दिष्ट आदेश को सिद्ध करने का सामर्थ्यसम्पादन करने के लिए पहले स्वयं अपना उद्धार करे।

इस स्वाभाविक नेतृत्व को लेने के लिए राष्ट्र आज विद्यार्थीवर्ग का आवाहन करता है, क्योंकि समाज में उनका स्थान समाज की खास प्रीति और ममता का पात्र है। उनमें संस्कारिता है, उमङ्ग है, सच्ची श्रद्धा है। शिक्षित बड़े लोग जो नहीं देख सकते उसे वे देख सकते हैं; जो वे न कह सकें, वह वे कह सकते हैं। इसीलिए आज राष्ट्र उनका आवाहन करता है। जापान के मिकाडो ने रूस के साथ युद्ध की घोषणा करते समय जिस गम्भीरता और श्रद्धा से राष्ट्र का भविष्य एडमिरल टोगो और मार्शल ओयामा के हाथ में सौंप दिया था उसी गम्भीरता से आज राष्ट्रीय महासभा विद्यार्थीवर्ग को राष्ट्र का भविष्य हाथ में लेने की आज्ञा करती है। विद्यार्थी-वर्ग इस विश्वास का पात्र साबित हो! जापानी वीरों के समान शास्त्रीय श्रद्धा (Scientific fanaticism) वे प्रकट करें और नौ महीनों के भीतर स्वराज्य प्राप्त कर लेने का श्रेय लें!

(१०)

प्रथम स्नातकों के प्रति

जब असहयोग-युद्ध का आरम्भ हुआ, तब राष्ट्र की इज्जत के लिए तुमने पहले-पहल अपनी आहुति दी। तुमने सरकार की शिक्षा का त्याग किया। तुम्हें यह मालूम हुआ कि राष्ट्र के लिए इतना तो ज़रूर ही करना चाहिए, और तुमने वह कर डाला। तुमने इस बात का विचार तक न किया कि तुम्हारा साथ कितने लड़के देंगे। तुमने आशा की थी कि तुम्हारे समान और भी हज़ारों को स्वार्थ-त्याग की प्रेरणा होगी। किन्तु यदि तुम्हारे ही समान सभी विद्यार्थी सरकारी शिक्षा का त्याग कर देते तो आज हम ज़रूर ही स्वराज्य-मन्दिर के दर्वाजे पहुँच गये होते। परन्तु उसके साथ ही यह भी सिद्ध होजाता कि अंग्रेजी शिक्षा का दुष्ट प्रभाव बहुत गहरा नहीं पहुंचा था। यदि देश की आज्ञा होते ही देश का प्रत्येक विद्यार्थी सरकारी स्कूल-कालेज से बाहर हो जाता तो सरकारी शिक्षा के विरोध में अधिक कुछ कहने की ज़रूरत ही न रहती। इसलिए तुम्हारा स्वार्थत्याग इतना मूल्यवान हो गया है। आत्मा को कुचल डालनेवाली शिक्षा में रहने पर भी तुमने अपनी आत्मा को जाग्रत रक्खा। इसी कारण तुम अपना मुक्ति-साधन कर सके।

सांसारिक दृष्टि से तुमने बड़ा ही स्वार्थ त्याग किया है, परन्तु वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो तुमने एक श्रेष्ठ स्वार्थ की ही साधना की

है। मान-हानि, तेजोवध और बुद्धि-भ्रंश जिस शिक्षा का पुरस्कार है, यदि तुमने उसका त्याग किया भी तो इसमें तुमने क्या गँवाया? ऐसा जीवन—ऐसा "कैरीअर" कि जिससे स्वराज्य दूर हो, स्वराज्यवादी की दृष्टि से तो हराम ही है। अतएव तुमने गँवाया तो कुछ भी नहीं। परन्तु यह तुम्हारी बहुत भारी कीर्ति है कि इस स्वराज्यवादी दृष्टि को तुमने ऐसे समय स्वीकार किया, जब उसे बहुतेरे स्वीकार न कर सके थे। जिस परिस्थिति में तुम छोटे से बड़े हुए, जिन विचारों में तुम्हारा बचपन बीता, उसकी हीनता का ज्ञान होने पर फ़ौरन ही तुम उसका त्याग कर सके, इससे यही ज़ाहिर होता है कि तुम्हारी आत्मा प्राणवान है। सत्य मालूम होते ही उसका तुरन्त स्वीकार कर लेना महात्माओं का जीवन-सिद्धान्त होता है। जीवन के आरम्भ ही ही में तुमने उसपर आरोहण किया और इसीसे देश के अगुआओं को युद्ध आगे चलाने का साहस हुआ। तुम्हारे उत्साह को देखकर ही विद्यापीठ जैसी स्थायी संस्था को कायम करने का अनुरोध उन्होंने स्वीकार किया। अनेक विद्वान तुम्हारी सेवा करने के लिए और तुम्हारे द्वारा अपने निष्फल जीवन को जहाँ तक बन सके सार्थक करने के लिए, अपने स्वप्नों को प्रत्यक्ष कार्य में परिणत देखने के लिए और अपने पूर्व कर्मों का प्रायश्चित्त करने के लिए, एकत्र हुए। तुम्हारा और तुम्हारे लिए किया गया स्वार्थत्याग महान् है। अब तुम उस स्वार्थत्याग के योग्य बनो, जिसमें कोई यह न कहे कि तुम्हारा त्याग क्षणिक उत्तेजना का परिणाम था। तुम्हारे सारे जीवन को इस बात की पूर्ति करनी चाहिए कि जिस दिन तुमने सरकारी

संस्थाओं को छोड़ा उसी दिन तुम्हारे जीवनतत्त्वों में क्रान्ति हो गई—तुम द्विज बने।

सरकारी और राष्ट्रीय दोनों प्रकार की शिक्षा के संस्कार तुमपर पड़े हैं। जब तुम राष्ट्रीय महाविद्यालय में आये, तब वहां कुछ भी तैयारी नहीं थीं। अतः यह तो नहीं कहा जा सकता कि राष्ट्रीय शिक्षा की सम्पूर्ण योजना का लाभ तुम्हें मिला है, परन्तु इसमें शक नहीं कि तुम्हें राष्ट्रीयता का चैतन्य ज़रूर मिला है; दोनों पद्धतियों का सामान्य स्वरूप तुम्हारी दृष्टि के सम्मुख है ही। तुम्हारे जीवन से अनायास यह सिद्ध हो जाना चाहिए कि राष्ट्रीय प्रेरणा से मनुष्य के जीवन में कैसा अद्भुत परिवर्तन हो जाता हैं।

सत्याग्रही, असहयोगी और राष्ट्रीय विद्यार्थियों की आत्मशुद्धिजन्य विनय और विवेक तुम्हारा अलंकार है। स्वदेश, स्वधर्म और स्वभाषा की उन्नति की साधना के लिए व्रतबद्ध हो अपने इष्ट-देवता के समान ही तुम इन तीनों की पूजा करो। इन तीनों में तुम्हारी ऐसी भक्ति हो कि तुम्हारे सामने इन तीनों में किसी एक की भी अवहेलना या हँसी न होने पाये। स्वभाषा की प्रतिष्ठा गँवाकर तुम कभी अपनी प्रतिष्ठा को सुरक्षित नहीं रख सकते। स्वदेश का अपमान सहकर तुम कभी अपने आत्म-सम्मान की रक्षा नहीं कर सकोगे। स्वधर्म की श्रद्धा खोकर तो तुम किसी समय भी आत्म-श्रद्धा का विकास नहीं कर सकते। स्वधर्म अग्नि के समान है। इसके सहवास से हमारे दोष जल जाते हैं और बाद में वह हमें अपने समान ही तेजस्वी बना देता है। आज उस अग्नि पर कुसंस्कारों की राख पड़ गई है, इसलिए उपेक्षा न करो, उस

पर पानी न डालो, बल्कि अपने प्राणों से फूँक लगाकर उसे प्रज्व-लित करो।

तुमने अपने कुलपति और आचार्य को साक्षी रखकर पवित्रता की वर्दी को पहना है और कन्धे पर राष्ट्रीय ध्वजा के रङ्गों को धारण किया है। उसका अर्थ है—"मैं अपना मस्तक अर्पण कर दूँगा, परन्तु इस राष्ट्र ध्वजा का अपमान न होने दूँगा।" भले ही दूसरे लोग खादी की आलोचना करें, परन्तु तुम्हारे लिए तो वह धर्म की वस्तु है, वह तुम्हारी विद्या की प्रकाशक है। हम जैसे माता-पिता और वंश की चर्चा नहीं करते, ईश्वरीय देन समझकर उसे शिरोधार्य कर लेते हैं, खादी के लिए भी तुम्हारे अन्दर वही आदर हो। यह खादी तुम्हारे कुलपति की दीक्षा है। समस्त विद्याओं का मूल, संस्कृति का आधार—सत्य और अहिंसा, यह तुम्हारे कुलपति का मन्त्र है; इसे ग्रहण कर तुम संसार में संचार करो। तुम जिस किसी स्थिति में होगे, तुम्हारी विजय ही होगी। आज तुम्हें स्वराज्य के सैनिक की हैसियत से कार्य करना है। भारत की शालीनता और शूरता तुम्हारे द्वारा प्रकट होगी। इसलिए जहाँ कहीं दीन-दुर्बलों पर अत्याचार होते हों, वहाँ तुम निर्भय होकर अकेले होने पर भी युद्ध करना। जहाँ-जहाँ क्षुद्र स्वार्थ, मत्सर या ईर्ष्या हो, वहाँ तुम उसे अपनी उदारता द्वारा लज्जित करो और प्रेम-पूर्वक अपने वश में करो। तुम स्वयं मुक्त हो जाओ और संसार को भी मुक्त करो। इसीमें तुम्हारी विद्या की सार्थकता है, क्योंकि 'सा विद्याया विमुक्तये'।

जीवन-चक्र

"सृष्टि में नवीन कुछ भी नहीं होता। जो कुछ है उतने ही में काम चला लेना चाहिए।"

[१]

जीवन-चक्र

तपस्या, भोग और यज्ञ—यह एक महान् जीवन चक्र है। मनुष्य किसी कामना से प्रेरित होकर सङ्कल्प करता है। उस सङ्कल्प की सिद्धि के लिए मनुष्य जिन-जिन कामों को उठाता है, वे सभी तपस्या के नाम से निर्दिष्ट किये जाते हैं। ये काम खुद-बखुद अथवा स्वत:प्रिय होते हों, सो नहीं; किन्तु संकल्पसिद्धि की आशा ही के कारण मनुष्य उनको प्रेम से या उत्साह-पूर्वक उठा लेता है। इस तपस्या के अन्त में फल-प्राप्ति होती है। फल-प्राप्ति के बाद की क्रिया को ही भोग कहते हैं। फलोपभोग हमारी धारणा से भी गूढ़ वस्तु है। यदि फलोपभोग में तृप्ति ही होती, तो उसीमें मनुष्य का आत्म-साक्षात्कार हो जाता; पर फलोपभोग के आनन्द ही में विषण्णता भरी होती है। हम हरेक आनन्द में अज्ञानत: आत्मा को प्राप्त करना चाहते हैं। कामना-पूर्ति से मिले हुए आनन्द के बाद एक क्षणमात्र मोहजन्य सन्तोष को प्राप्त कर दिल कहता है, कि मैं जो चाहता था वह यह नहीं है। इतने ही से सावधान होकर यदि मनुष्य कामनाओं से विमुख हो जाय, तो उसे आत्म-प्राप्ति का मार्ग मिल जाय। परन्तु सत्य का मुख सोने के ढक्कन से ढका होता है। एक संकल्प पूरा नहीं होने पाता कि दूसरा संकल्प उसीमें से उत्पन्न हो जाता है और इस तरह फिर नई प्रवृत्ति में, नई तपस्या में, और नये भोग में मनुष्य बहने लगता है।

इसमें यज्ञ को स्थान कहाँ है? प्रत्येक भोग कामना से की हुई तपस्या, प्रकृति से लिया हुआ ऋण है। मनुष्य उसे चुकाकर ही ऋण-मुक्त होता है। मुझे अन्न खाना है, इसीलिए मैं जमीन जोतता हूँ, उसमें बीज बोता हूँ, फसल कटने तक खेत में परिश्रम करता हूँ और इस तरह जमीन का सार निकालकर उसका भोग करता हूँ। मेरा धर्म यह है कि मैंने भूमि से जितना सार लिया उतना ही उसे फिर लौटा दूँ। इस तरह भूमि को उसकी पहली स्थिति प्राप्त करा देना ही यज्ञ-कर्म है।

प्रवास में मैं किसीके यहाँ रात-भर रहा। मुझे रसोई बनानी हैं, मैं घरवाले के पास से बरतन माँगकर लेता हूँ। अब बरतनों में अन्न सिद्ध कर लेना मेरा तप हैं; और भोजन करना मेरा भोग। इतना करने के बाद घरवाले के पात्र माँजकर, जैसे थे वैसे ही करके, दे देना मेरा यज्ञ-कर्म है।

मुझे तालाब या कुँए पर स्नान करना है; पानी खींचना मेरा तप हैं, स्नान मेरा भोग है। अब यज्ञ कौनसा? बहुतेरे मनुष्य—बहुधा सभी—विचार तक नहीं करते कि इसमें कोई क्रिया बाकी रह गई है। शास्त्रो में लिखा है, 'यदि तुम तालाब में स्नान करो तो जितनी तुमसे हो सके उसकी कीचड़ निकालकर फेंक दो।' यही हमारा यज्ञ-कर्म है। यदि कुँए में नहाते हों तो उस कुँए के आसपास की दुर्गन्ध को दूर करना हमारा आवश्यक यज्ञ-कर्म है।

गीता कहती है, जो इस तरह नहीं करता वह चोर है। वह शरीर को तकलीफ देना नहीं चाहता (अघायुरिन्द्रियारामः); समाज की

सेवा तो ले लेता है, पर उससे उधार ली हुई चीज लौटाना नहीं जानता। जो मनुष्य भोग करता है, पर यज्ञ नहीं करता, उसका यह जन्म भ्रष्ट होता है; उसका परलोक कहाँ से अच्छा हो सकता है?

इस यज्ञ-कर्म का लोप होजाने से ही हिन्दुस्थान कङ्गाल और पामर बन गया है। हम स्त्रियों से सेवा लेते हैं, परन्तु उसका बदला उन्हें नहीं देते। किसानों के परिश्रम का भोग करते हैं, पर जिससे किसानों की भलाई हो ऐसा यज्ञ-कर्म नहीं करते। हम अन्त्यजों को समाज-सेवा का पाठ पढ़ाते हैं, सेवा भी बलपूर्वक उनसे लेते हैं, पर उनके उद्धार-रूपी यज्ञ-कर्म तक को न करके उतने हड्डियों के हराम हम बन गये हैं। हम सार्वजनिक लाभ प्राप्त करने को सदा दौड़ते हैं, किन्तु कर्त्तव्यों का पालन शायद ही कभी करते हैं। इससे सारा समाज दीवालिया बन गया है।

मोद-शास्त्र कहता है— न्याय के लिए भी तुम्हें यज्ञ करना चाहिए। भोग के लिए की हुई ...स्या आधा कर्म हुआ; यज्ञ-कर्म उसकी पूर्ति हैं। आप तप तो करते हैं, पर यज्ञ नहीं करते; इसीसे आपकी वासनायें अनियन्त्रित रूप से बहती हैं। यदि आप यज्ञ करने लगें तो भोग की इच्छा ज़रूर मर्यादित रहेगी; आपका जीवन पापशून्य हो जायगा।

हरेक बालक के जन्म के बाद शिशु-संबंध के लिए स्त्री-पुरुष यदि सात वर्ष ब्रह्मचर्य में बिताने का निश्चय करलें तो उन्हें दीन बनकर समाज की दया पर आधार रखने का प्रसङ्ग नहीं आ सकता।

यज्ञ करने के बाद—ऋण चुकाने के बाद—मनुष्य जो तप करता है, जो भोग भोगता है, उसका वह अधिकारी होता है, उससे उसे

किल्मिष (पाप) नहीं प्राप्त होता। उसकी प्रवृत्ति निष्पाप और उन्नतिकारिणी होती है। पर यदि मोक्ष प्राप्त करना हो तो प्रवृत्ति को छोड़ देना चाहिए—अर्थात् कामना, तत्प्रीत्यर्थ तप और उस तप के द्वारा उत्पन्न फल का उपभोग इन तीनों को त्याग देना चाहिए। परन्तु यज्ञ को तो किसी तरह छोड़ ही नहीं सकते। निष्काम—ज्ञानपूर्वक यज्ञ—कार्यमेव—करना ही चाहिए। उससे पुराना ऋण चुक जाता है, अपने सम्बन्धियों का ऋण टल जाता है, समाज का सर्व-सामान्य भार कम हो जाता है, पृथ्वी का भार हलका हो जाता है, श्रीविष्णु सन्तुष्ट होते हैं और मनुष्य मुक्त हो जाता है।

हम जो जी रहे हैं, इसीमें सैकड़ों व्यक्तियो का ऋण हम लेते हैं। प्राकृतिक शक्तियों का तो ऋण हई है, समाज का ऋण भी है, समाज को हर प्रकार से संस्कारी बनानेवाले पूर्व-ऋषियों का भी ऋण है, और कुल-परम्परा की विरासत हमारे लिए छोड़ जानेवाले माता-पिताओं का भी ऋण है। ये सब ऋण पञ्चमहायज्ञों द्वारा चुका देने के बाद ही मनुष्य मुक्ति का विचार कर सकता है।

इस यज्ञ-कर्म में पर्याय से काम नहीं चलता। ऋण जिस तरह का हो, यज्ञ भी उसी तरह का होना चाहिए। विद्या पढ़कर गुरु से लिया ऋण गुरु को दक्षिणा भर दे देने ही से नहीं चुकता; बल्कि गुरु के दिये दान की रक्षा कर और उसे बढ़ाकर नई पीढ़ी को देना ही सच्चा यज्ञ-कर्म है। सृष्टि में नवीन कुछ भी नहीं होता। जो कुछ है उतने ही में काम चला लेना चाहिए। इसलिए हम अपनी चेष्टाओं से साम्यावस्था का जितना ही भङ्ग करते हैं, उतना ही उसे

फिर समान कर देना परम-आवश्यक यज्ञ-कर्म है। आकाश जितनी भाफ लेता है उतना ही पानी फिर दे देता है। समुद्र जितना पानी लेता है उतनी ही भाफ फिर दे देता है। इसीसे सृष्टि का महान् चक्र बेरोक-टोक चलता है। यज्ञ-चक्र को ठीक-ठीक चलाते रहना शुद्ध कर्म है। निष्काम होकर त्यागभाव से, कम-से-कम जहांतक अपना सम्बन्ध है, इस चक्र का वेग घटाना ही निवृत्ति-धर्म है। कुछ भी काम न करना निवृत्ति नहीं, वह तो बिलकुल चोरी ही है।

---

[२]

वीर-धर्म

हिन्दुस्थान के सभी प्रश्नों में दरिद्रता का प्रश्न सबसे बड़ा है। जिस राष्ट्र की जनता को दो बार पेट-भर खाने को भी न मिलता हो, उसका चित्त किसी दूसरे प्रश्न की ओर कैसे जा सकता है? इस फाकेकशी को दूर करने पर ही जनता को कुछ सूझ पड़ेगा और अपने जीवन में सुधार करने योग्य उत्साह उसमें आवेगा। सुबह से शाम तक, एक चातुर्मास से दूसरे चातुर्मास तक, और जन्म से मरण तक, यही एक प्रश्न गरीब भारत के सम्मुख हमेशा खड़ा रहता है कि इस फाकेकशी को कैसे दूर किया जाय?

देहात में कई स्थानों पर मनुष्य कितना ही बीमार हो जाय तो भी वह एक दिन भी दवा नहीं ले सकता, और न विश्रान्ति ही ले सकता है। क्योंकि, यदि वह विश्रान्ति लेने जाय तो खावे ही क्या? यदि डाक्टर को तीन आने देने हों. तो एक दिन की अपनी खुराक

काटकर ही वह दे सकता है। गरीबी के कारण मनुष्य का तेजोवध भी होता है। वह अन्याय होते हुए अपनी आँखों देखता है, किन्तु उसका प्रतिकार नहीं कर सकता। वह देखता है कि मैं ठगा जा रहा हूँ, किन्तु फिर भी वह उस ठगाई से बच नहीं सकता; गरीबी के कारण उसे स्वाभाविक दया, माया और ममता भी छोड़ देनी पड़ती है। पुत्र-स्नेह-वत पाले हुए बैल और भैंसों से उनके बूते के बाहर उसे काम लेना पड़ता है। निर्दय बनकर उन्हें मारना-पीटना भी पड़ता है।

और सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह कि गरीब देहाती गरीब होता है, इसीलिए उसे अक्सर ज्यादा खर्च करना पड़ता है। इसीलिए उससे अधिक सूद लिया जाता है कि वह गरीब होता है। उसे रिश्वत देने पर ही नई-नई सुविधाओं का लाभ मिल सकता है। थोड़े में यों कहना चाहिए कि गरीब होता है, इसीलिए उसे और भी अधिक गरीब बनाना पड़ता है।

इसका उपाय क्या है ? कानून के द्वारा इसकी रक्षा नहीं हो सकती। शाहजादे से लेकर बड़े-बड़े अधिकारियों तक के जो बड़े-बड़े दौरे होते हैं, उनसे भी ग़रीबों की हालत नहीं सुधर सकती। उलटे ऐसे प्रसङ्गों पर तो गरीब बेगार करते-करते अधमरे हो जाते हैं। अदालतें तो गरीबों को चूसने ही का काम करती हैं। पुलिस-कमचारी ग़रीबों को यमराज के समान मालूम देते हैं। वकील, सूद पर रुपये देने वाले साहूकार, सवाल-नवीस, अर्जी नवीस, पटेल, पट-वारी, वार्षिक उगाही करनेवाले गुरु, पुरोहित, ज्योतिषि, साधु, संन्यासी, फ़कीर, सभी गरीब किसानों ही के सिर पर अपना निर्वाह करते हैं।

ग़रीब किसान सारी दुनिया को खिलाता है, परन्तु उस बेचारे को खिलानेवाला कोई नहीं मिलता। उसकी किस्मत में तो वही फाकेकशी है।

इसका उपाय क्या है? हम तो इसका एक ही उपाय बतला सकते हैं, और वह है स्वावलम्बन। किन्तु जिस मनुष्य पर सारा समाज अवलम्बित है, उसके सम्मुख स्वावलम्बन की बात करते हुए हमें लज्जा आनी चाहिए। उस बेचारे को अपने बाल-बच्चे होते हैं, माँ-बाप और भाई-बहन आदि होते हैं, और वह यह सब कुछ इसलिए सह लेता है कि उनकी दुर्दशा न होने पावे; नहीं वह कभी का या तो बाग़ी बन गया होता, या भभूत रमाकर बैरागी ही हो गया होता। उसके दुःखों को कौन दूर कर सकता है? हम जो कुछ भी हलचल या आन्दोलन करते हैं, वह सब शहरों में ही होता है। व्याख्यान शहरों ही में होते हैं; शिक्षा के लिए खर्च शहरों ही में होता है; समाचार-पत्र भी शहरों ही में पढ़े जाते हैं; दवा-दरपन की सुविधायें भी तो शहरों ही में होती हैं; सुख और सुविधा के सभी साधन शहरों ही में मिल सकते हैं। तब इन देहाती गरीबों का आधार कौन है?

विचार करने से ज्ञात होगा कि ग़रीबी की औषधि ग़रीबी ही है। जिस देश में करोड़ों मनुष्य फ़ाकेकशी कर रहे हैं, उसमें उनकी वह फ़ाकेकशी मिटाने के लिए हज़ारों और लाखों युवकों को स्वेच्छापूर्वक धार्मिकता से ग़रीबी धारण करनी चाहिए। अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त कर इस विषय में हम बहुत ही कायर बन गये हैं। आज तो मनुष्य मृत्यु से, बेइज़्ज़ती से, धर्म-द्रोह और देश-द्रोह से इतना ही डरता है

जितना कि वह ग़रीबी से डरता है। जिस देश में स्वेच्छापूर्वक धारण की हुई ग़रीबी की प्रतिष्ठा सर्वोपरि थी, आज उसी देश में हरेक शिक्षित युवक कायर की तरह ग़रीबी से भागता फिरता है। रूस में अकाल फैला हुआ था। लोगों का दुःख असह्य था। उसे देखकर साधु टॉल्स्टॉय घर-बार छोड़कर भिखमंगा बन गया। बाह्य दृष्टि से देखने में क्या लाभ हुआ? ग़रीबों की संख्या में और भी एक आदमी बढ़ा दिया, बस यही न? अर्थशास्त्री इसका उत्तर नहीं दे सकते, क्योंकि उनके शास्त्र में आत्मा के लिए स्थान ही नहीं। पर टॉल्स्टॉय ने संसार की आत्मा को जागृत किया, संसार के ऐशो-आराम में डूबे हुए हजारों मनुष्यों को फाकेकशी का और उसके मूलभूत कारण अन्याय का प्रत्यक्ष दर्शन करा दिया।

नवयुवक कहते हैं—'आपकी बात सच है, किन्तु हमारे बाल-बच्चों का क्या होगा? जिस स्थिति में रहने की आदत उनको पड़ गई है, उसमें तो उन्हें रखना ही होगा न? क्या यह उचित है कि हमारे विचारों के कारण वे कष्ट सहें?' मैं कहूँगा, 'जरूर'। इसमें कुछ भी अनुचित न होगा। यदि आपकी दृष्टि से केवल आपकी स्त्री और बाल-बच्चे ही सत्य हों, और भूखों मरनेवाले ये करोड़ों भाई केवल भ्रम—माया—हों, तब तो जुदी बात है। पर आप यह क्यों नहीं खयाल करते, कि क्या यह उचित है कि हमारी सफेद आदतों के कारण हज़ारों ग़रीबों को भूखों मरना पड़े? ग़रीबी में दिन काटने पड़ेंगे—इस डर से हममें कितनी कायरता आ गई है! पद-पद पर हमारा जो तेजोवध हो रहा है उसका कारण यह गरीबी का डर ही है। अन्याय को सहते हैं.

अपमान का कड़वा घूँट पी जाते हैं, आँखे मूँदकर अन्याय करने में दूसरे के साथ सहयोग करते हैं, और रात-दिन आत्मा का अपमान करते हैं, इसका कारण सिवाय इस ग़रीबी के भय के और कुछ हई नहीं।

युद्ध में जो हजारों और लाखों सैनिक देश के लिए लड़ने जाते हैं, वे सभी कहीं महात्मा नहीं होते। उनके भी बाल-बच्चे होते हैं। दस या पन्द्रह रुपये पानेवाला मनुष्य बाल-बच्चों के लिए क्या बचत कर सकता है? स्त्रियों और लड़के-लड़कियों को आश्रित दशा में रहने की हमने आदत डाल रक्खी हैं। इसीसे हमें अज्ञात भविष्य में ग़ोता लगाने में भय होता है। प्रति दिन परिश्रम करके रोटियाँ पैदा करना और भविष्य की ज़रा भी चिन्ता न करना, इसमें जो वीर-रस है उसकी मधुरता अनुभव के बिना समझ में नहीं आती। कुशलता, सुशिक्षितता तो जीवन की विध्वंसक है। भविष्य की सन्दिग्धता—नित्य-नूतन युद्ध, यही तो जीवन का सार है। इसका स्वाद जिन्हें नहीं मिला, उन्हें तो अभागे ही समझिए। जिसका भविष्य सुरक्षित है, उसमें धार्मिकता का होना बहुत कठिन है। जो सुरक्षितता को चाहता है, वह वास्तव में नास्तिक ही है। जैसे बालक माता-पिता पर विश्वास रखकर निश्चिन्त रहता है, उसी तरह वीर पुरुष को माङ्गल्य पर विश्वास रखना चाहिए। जहाँ सुरक्षितता है वहाँ न पुरुषार्थ होता है न धार्मिकता, न कला होती है और न काव्य ही होता है।

जो मनुष्य स्वेच्छापूर्वक ग़रीबी धारण करता है, वह वीर बन जाता है। अन्यायी मनुष्य को वह काल के समान भासित होता है।

पण्डितों को कृपानिधि जान पड़ता है। वह बड़ी-से-बड़ी सल्तनत का सामना कर सकता है, और धर्म का रहस्य भी उसको प्रकट होता है। ग़रीबी वीर मनुष्य की खूराक है, ईश्वर का प्रसाद है, और धर्म का आधार है। जब इस तरह के ग़रीब देश में बढ़ेंगे तभी देश की ग़रीबी दूर होगी, फ़ाकेकशी मिटेगी, लोगों में हिम्मत आयगी और आज जो बात असम्भव मालूम होती है वही आगे सम्भव और सुलभ हो जायगी।

---

[३]

ग़रीबों की दुनिया

मानव-जाति के इतिहास के मानी क्या हैं? भिन्न-भिन्न मानव-जातियों के सम्मुख भिन्न-भिन्न प्रसङ्गों पर खड़े हुए अनेकों प्रश्नों की उलझनें और उनको सुलझाने के लिए किये हुए मानव-प्रयासों का वर्णन। इस दृष्टि से आज यूरोप के इतिहास का अवलोकन हमारे लिए बहुत ही बोध-प्रद है। क्योंकि यूरोप ने अन्तिम शताब्दी में अपने पुरुषार्थ से सारे संसार पर भला या बुरा प्रभाव डाला है।

अन्धकार के युग में से उबर आने के बाद के यूरोप के इतिहास में हम प्रायः भिन्न-भिन्न राजवंशों के अभिमान, महत्वाकांक्षा और चतुराई ही देखते हैं, मानों इतिहास में सामान्य प्रजा का अस्तित्व ही नहीं था।

जैसे महाभारत में अठारह अक्षौहिणी सेना के युद्ध में गिने जाने और कट जाने के सिवा और कोई अर्थ ही नहीं, अथवा जिस तरह चित्र

के पीछे उसे धारण करने के लिए पट होता है, ठीक वैसी ही दशा यूरोप में सर्वसाधारण जनता की थी, यों कहा जाय तो अयथार्थ न होगा। रूस, प्रशिया और आस्ट्रिया इन तीनों राज्यों ने यूरोप की एक महान् जाति के प्रति घोर अन्याय करके प्रजाओं को ऐतिहासिक महत्व दिया। जिस दिन पोलैण्ड के टुकड़े-टुकड़े किये गये, उसी दिन यूरोप में राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। इटालियन देश-भक्त जोसेफ़ मैजिनी ने अपने तत्त्व-ज्ञान से और कठोर तपश्चर्या से राष्ट्रों को नाम, रूप और महत्व समर्पित किया और उसी दिन से यूरोप के युद्ध और सुलहनामे अर्थात् सन्धि-विग्रहादि राष्ट्रों के नाम से होते हैं।

वर्तमान समय औद्योगिक प्रगति का युग होने से राजसत्ता किसी-न-किसी तरह व्यापारियों के हाथों में चली जाती है। ये व्यापारी अपने स्वार्थ के लिए भोली-भाली प्रजाओं में राष्ट्रीय अभिमान, द्वेष और ईर्षा सुलगाकर उन्हें लड़ाते हैं और भयंकर संहार कराकर उसका आर्थिक लाभ तो स्वयं चाट जाते हैं, किन्तु उसका भार तथा आपत्तियाँ मात्र उन ग़रीब प्रजाओं को ही उठानी पड़ती हैं।

जबतक यूरोप के शासन-सूत्र राजवंशों के हाथों में थे, तबतक बाहरी दुनिया के साथ उसका अधिक सम्बन्ध नहीं हुआ था; परन्तु जिस दिन से औद्योगिक युग का आरम्भ हुआ, उसी दिन से यूरोप के झगड़े सारी दुनिया को बाधक होने लगे।

जिस प्रकार अन्यान्य सभी खण्डों की प्रजा यूरोप के इन झगड़ों के कारण थक गई है, उसी प्रकार वहाँ का मजूर-दल भी इनके कारण उतना ही व्याकुल हो उठा है। वह कहता है कि "यह मान लेना

भ्रमात्मक है कि आज यूरोप में पन्द्रह या अठारह राष्ट्र हैं। यूरोप में तो केवल दो ही राष्ट्र हैं। एक धनियों का और दूसरा निर्धनों का। धनवान राष्ट्र समर्थ और संगठित है, पर निर्धन राष्ट्र असहाय और छिन्न-भिन्न है। इसीलिए तो धनिक निर्धनों को अपना दास बनाकर उनका खून चूस सकते हैं। यदि निर्धनों का वर्ग सुसंगठित हो जाय, ऐक्य-पूर्वक रहकर किसी योजना को तैयार कर उसको पूरा कर सके, तो उसके पास मनुष्य-बल तो इतना है और राष्ट्रीय जीवन की एक-एक नस इस तरह सम्पूर्णता के साथ उसके हाथों में है कि वह जिस क्षण चाहे उसी क्षण अपनी मनमानी कर सकता है।" इसी खयाल से वहाँ मजदूरशाही अथवा बोलशेविज्म का जन्म हुआ। यूरोप में अब धनी और निर्धनों के बीच महान् विग्रह शुरू हो गया है। यह कहना कठिन है कि कब और किस तरह इस विग्रह का अन्त होगा।

शंकराचार्य ने जिस समय 'अर्थमनर्थं भावय नित्यं' कहा था उस समय शायद उनके दिल में अपने वचन का इतना व्यापक अर्थ नहीं आया होगा। जबतक लोग इस तरह धन के लिए एकसे लड़ते रहेंगे, तबतक इस मानवता को सुख और शान्ति कैसे नसीब हो सकती है ? 'अद्वैत' की तरह इस विग्रह में भी 'द्वितीया द्वै भवं भवति।' जबतक ये दो रहेंगे, युद्ध बराबर जारी रहेगा। सर्वनाश किये बिना यह विग्रह शान्त नहीं होगा।

पर श्रद्धा कहती है, 'नहीं, सर्वनाश के लिए इस मानवता की सृष्टि नहीं हुई है।' भगवान ईसा ने कहा है कि यह दुनिया ग़रीबों के लिए है। पर गरीबों से मतलब उपर्युक्त रीति के निर्धनों से नहीं है।

क्योंकि, वे तो दोनों—धनी और निर्धन भी—धन की वासना से पूर्णतः व्याप्त हैं। अतः वे दोनों तो धनवान ही हुए। जहाँ एक धन के मद से मत्त है, तहाँ दूसरा धन लोभ से अन्धा हो रहा है। दोनों ही में धन की विकृति है। अतः जिसमें धन की विकृति है वह गरीब नहीं धनवान ही कहा जायगा। पर यह दुनिया धनवानों की नहीं, गरीबों की है।

इस दृष्टि से देखा जाय तो समस्त यूरोप धनवान है। पूँजीपति भी धनवान और बोलशेविक भी धनवान। क्योंकि दोनों धन-परायण हैं, धन को चाहनेवाले हैं, उसके लिए पागल हो रहे हैं।

ये दोनों प्रकार के धनवान भले ही संसार में मनमाने लड़ें, कानून के पंडित भले ही चाहे कितने ही प्रकार से संपत्ति के विभाग करके देख लें, पर इस तरह संसार में कदापि शान्ति का साम्राज्य नहीं होगा।

यूरोप में अल्पसख्यक लोगो के हाथ में धन है। निस्सन्देह यह स्थिति विषम है। परन्तु यदि निर्धन लोग भूखे भेड़िये की तरह हमेशा उस सम्पत्ति को लूटने की ताक में रहेंगे, तब तो वह विषमता और भी भयकर हो जायगी। पर यह बात निर्धनों के ख़याल में नहीं आती। उनमें इतनी श्रद्धा का उदय होना जरूरी है कि धनिकों को बिना लूटे ही अपनी विषमता दूर हो सकती है।

इसके लिए निर्धनों को कुछ करना चाहिए। अपनी आवश्यकताओं को वे घटावें और अत्यन्त स्वाभाविक जरूरतों को स्वावलम्बन द्वारा पूरी करना सीख लें। फिर वे देखेंगे कि न तो धनवानों के पास अधिक धन जा रहा है, और न वहां एकत्र ही हो रहा है। बड़े पैमाने पर वस्तुओं को पैदा करना और उन्हें देश देशान्तरों में भेजना अथवा,

संक्षेप में, विराट रूप से श्रम-विभाग करना ही इस विषमता का मूल कारण है। इस विषमता को दूर करने ही के लिए स्वदेशी-धर्म का अवतार हुआ है। स्वदेशी के पालन से कोई भी मनुष्य धनिक न हो सकेगा, और न उससे किसी मनुष्य के निर्धन होने का ही डर है। यदि हमें एक जगह ऊँचा टीला करना है, तो दूसरी जगह अवश्य ही गड़हा खोदना होगा। जहां धन का अभाव है, वहीं निर्धनता का अभाव हो सकता है। सम्पत्ति और दारिद्र्य दोनों सनातन पड़ोसी हैं। दोनों का नाश एकसाथ ही हो सकता है—बोलशेविज्म द्वारा नहीं, स्वदेशी-धर्म द्वारा।

यदि परमात्मा चाहेंगे तो अबसे आगे के जमाने के लोगों में दो वर्ग होंगे—एक धन-परायण और दूसरा सन्तोष-परायण। एक होगा साम्राज्यवादी और दूसरा होगा स्वराज्यवादी। एक होगा सत्तावादी और दूसरा होगा सत्यवादी। एक आतङ्क जमाना चाहेगा, दूसरा दया का शीतल स्रोत बहावेगा। एक ऐश्वर्य-परायण होगा और दूसरा होगा स्वधर्म-परायण। एक अहंकारवादी और दूसरा स्वदेशी।

---

[४]

प्रतिष्ठा की अस्पृश्यता

हवा सर्वत्र चलती है, सभीको छूती है और संसार की एकरूपता सिद्ध करती है। स्वर्ग के देवता और कब्र के मुरदे हवा का त्याग कर सकते हैं। दोनों अस्पृश्य हैं। ईश्वर की इच्छा है कि पृथ्वी तो

पृथ्वी ही बनी रहे। परन्तु कई मनुष्य अपने एकरंगी विचार के प्रवाह में बहकर इस भूलोक पर स्वर्ग और नरक की सृष्टि खड़ी करना चाहते हैं। मुरदा सड़ता है, मुरदे में प्राण नहीं होता, मुरदा पृथ्वी के लिए भार-रूप है, इसलिए उसे कोई छूता भी नहीं; इतना ही नहीं बल्कि दफनाकर या आग से जलाकर लोग उसे नष्ट कर देते हैं। देवता हमें छूते नहीं। परन्तु वे इस भूलोक पर विचरते भी तो नहीं। जब उन्हें विचरना होता है, तब वे मानव-रूप धारण कर लेते हैं; वे मनुष्यों के-से व्यवहार करते हैं, तभी वे मनुष्यों में मिलते-जुलते हैं। जब वे (देवता) ऐसा करने से इन्कार करते हैं, तब उन्हें पत्थर बनकर बन्दी-वास भोगना पड़ता है।

हमारे समाज में इसी तरह के दो अस्पृश्य वर्ग देखने में आते हैं। एक अन्त्यजों का और दूसरा अंग्रेजों का। ढेड़—मेहतर—अस्पृश्य हैं, उसी प्रकार शङ्कराचार्य भी अस्पृश्य हैं। हम दोनों की श्रेणियों में बैठकर भोजन नहीं करते। हम दोनों से हाथभर दूर रहते हैं। दोनों को वेद का अधिकार नहीं और इसलिए दोनों को समाज में स्थान भी नहीं है। समाज में उनकी स्थिति खतरनाक है। यदि उन्हें समाज में शामिल करना हो तो पहले उनकी इस अस्पृश्यता को दूर करना जरूरी है। यदि अन्त्यजों को समाज में अस्पृश्य ही बनाये रक्खेंगे तो सामाजिक दुर्गन्ध बढ़ेगी। उसे दूर करने के दो ही उपाय हैं। या तो हिन्दू-समाज से उनको निकाल दिया जाय, या उन्हें स्पृश्य बना लिया जाय। ब्राह्मण-संस्कृति के प्रतिनिधि शङ्कराचार्यों को भी चाहिए कि वे मनुष्य की तरह समाज में विचरें, समाज की स्थिति पर विचार करें

और धर्मोपदेश द्वारा समाज की सेवा करें। यदि वे ऐसा न करते हों तो उन्हें चाहिए कि वे लोगों की सेवा, पूजा-मात्र का स्वीकार करने वाली मूक मूर्त्ति बन जायँ। नैपाल मे राजा को इतना महत्व दिया गया है कि कोई भी व्यावहारिक कार्य राजा के योग्य नहीं गिना जाता। प्रजा-पालन, शत्रु-दमन, मन्त्री तथा राजकर्मचारियों पर देख-रेख, नियम बनाना, किसीको दण्ड देना, या क्षमा प्रदान करना इत्यादि कामो में से एक भी काम यदि राजा स्वयं कर डाले तो उसकी प्रतिष्ठा की महान् हानि होती है। काम-काज प्रधान करता है, राजा केवल नाम मात्र का होता है। यह तो प्रजा ही जाने कि ऐसे अस्पृश्य राजा का उसे क्या उपयोग होता होगा। नैपाल के राजा का सम्मान चाहे कितना ही हो, समाज के हिसाब से तो वह एक अहेतुक निरुपयोगी प्राणी है—क्योंकि वह अस्पृश्य है। वेद-विद्या को भी हमने इसी तरह बना रक्खा है। वेद इतने पवित्र हैं कि उनका अर्थ तक नहीं किया जा सकता! संस्कृत-भाषा की भी यही दशा हुई है। संस्कृत तो ठहरी देवताओं की वाणी, मनुष्य उसका व्यवहार कैसे कर सकते हैं? फलतः उसे जड़, निर्जीव, वीतप्राण ही हो जाना पड़ा। इस प्रतिष्ठा की अस्पृश्यता से देववाणी को और भूदेवों के समुदाय को कौन उबारेगा? जब शरीर के पैर और सिर भी समाज-सेवा के लिए अयोग्य हो जायँ, तब मनुष्य को पेट ही से विचार करना पड़े और चलना भी पड़े तो आश्चर्य क्या?

समाज को पंगु न बनाना हो तो शङ्कराचार्यों को और नैपाल-नरेश जैसे राजाओं को अपनी अस्पृश्यता को त्याग कर समाज में

सम्मिलित होना चाहिए, और अन्त्यजों की अस्पृश्यता को दूर कर उन्हें भी शामिल कर देना चाहिए। ऐसा करने ही से धार्मिक अन्धकार नष्ट होगा और हिन्दू-धर्म के सिर का काला धब्बा मिटेगा। केवल दिन-दहाड़े मशालें जलाकर जलूस निकालने से क्या होना-जाना है?

---

[५]

भारत की समस्या *

स्वेच्छा ही से बहिष्कृत हो जानेवाले, कुलीन फ्रान्स के ओ चिन्तनशील अतिथि! तुझे हमारा प्रणाम है। मन और वाचा दोनो का तुझपर आशीर्वाद है। तुझे अपने राष्ट्र का अच्छा परिचय है; इसी कारण तू दुनिया के राष्ट्रों को समझ सकता है। फ्रान्स का भूतकाल, यूरोप की तपश्चर्या, पश्चिम की आकांक्षा तेरे अन्दर जागृत है; इसीलिए तू भविष्य को भी प्रत्यक्ष कर सकता है। पर स्मरण रहे कि भविष्य के भी अनेक अंग हैं। वही शायद सम्पूर्ण भविष्य के दर्शन कर सकता है, जिसने सम्पूर्ण भूत को देख लिया है। सनातन अनन्त के विस्तार में भूत और भविष्य एकसे ही जीवित हैं—वर्तमान हैं।

हम समझ गये, तू कैसा हिन्दुस्थान चाहता है। हम इस पुण्य अभिलाषा के लिए तेरा अभिनन्दन करते हैं, तेरी वन्दना करते हैं। हम

---

* अहमदाबाद-कांग्रेस मे श्री पाल रिचार्ड के व्याख्यान (नवीन भारत) का उत्तर।

नहीं मानते कि हम श्रेष्ठ राष्ट्र हैं। पर हमारे स्वदेशी धर्मानुसार हम अपने ही प्रकाश से प्रकाशित होना चाहते हैं। भेद की दीवारों को हम नहीं चाहते। हमारा प्रकाश, प्रकाश होने से, संसार में सर्वत्र फैलेगा। प्रत्येक राष्ट्र के पास उसका अपना प्रकाश तो ज़रूर ही होता है। जहां जहाँ से हमारे यहाँ प्रकाश आ रहा हो, उन सभीको हमारा निमंत्रण है। ईश्वरीय प्रकाश तो एकरूप ही होता है, परन्तु प्रत्येक राष्ट्र का प्रकाश भिन्नवर्णी होता है। ईश्वरीय योजना की यह एक खूबी है—सुन्दरता है। इसीमें काव्य है।

हम न किसीकी निन्दा करते हैं और न किसीकी प्रशंसा। सृष्टि जड़ और चैतन्य से ही बनी है। हमने सीखा है कि प्रकृति सत्-असत्-आत्मक ही है। जबतक जीव-दशा है, तबतक अवश्य ही दोनो का काम पड़ेगा। जड़ की पूजा करना ही हमारी समझ में जड़वाद है, यह हमारा आशय कदापि नहीं। यूरोप मे सर्वत्र ही जड़वाद है। परन्तु हमें बुरा सिर्फ यही मालूम होना है कि हमने यूरोप से केवल जड़वाद ही सीखा। किन्तु यदि हमारे अन्दर भी जड़वाद न होता तो हम गिरते ही नहीं। इसलिए दोष तो हम अपना ही समझते हैं। हम जड़ के वश तो कभी के हो गये थे। किन्तु यूरोप से हम उस जड़ को पूजा भी करना सीख गये, अधःपात ही को उन्नति मानने लग गये; इसी बात पर हमें दुःख होता है।

हम यह जानते हैं कि आत्मा के मानी हैं—नित्य नूतनता। उस चीज को मरना पड़ता है, जो नित्य नूतन नहीं होती। जन्म-मरण जितना सत्य है उतना ही सनातन जीवन भी सत्य है। घास और वन

रातियाँ ऋतु-ऋतु में मरती हैं और ऋतु-ऋतु में पुनर्जीवित भी होती हैं। यही इनका जीवन-धर्म है। बरगद और पीपल का जीवन-धर्म भिन्न है। प्रत्येक राष्ट्र बाल्यावस्था में भविष्य की ओर ही देखेगा, यौवन में वर्तमान ही में फँस रहेगा, और वार्धक्य में भूतकाल की ओर ही आँसूभरी- दृष्टि फेंकेगा; परन्तु जिस राष्ट्र को सनातन होना है, वह तो त्रिकाल-दर्शी ही होता है। उसके भीतर यौवन का उत्साह भले ही न हो, किन्तु उसके भीतर गाम्भीर्य तो भरपूर होगा। उसका स्वभाव धीरोदात्त होगा।

यह सच है कि हमारी समस्या कठिन-से-कठिन है। विरोधी धर्म और लड़ाके पन्थों का प्रेम-धर्म-सम्मेलन करने का गुरुतर भार हमारे सिर है। यह हमारे लिए विशेष आदेश है; यही हमारा विशेष कार्य है। संसार के भाग्य-विधाता ने इसीलिए हमें एक स्वतन्त्र मन्त्र अर्पण किया है, जिसे हम 'स्वदेशी' के नाम से पहचानते हैं। वर्ण-व्यवस्था उसीका एक अंग है। यदि संसार में सबको एक ही ढाँचे में न ढालना हो, बल्कि यदि जगत् की विविधता में भी ऐक्य का सम्पादन करना हो, यदि सप्तस्वरों के सङ्गीत की रक्षा करना हो, यदि सब वर्णों का एक संघ बनाना हो, तो स्वधर्म मूलक वर्ण-व्यवस्था ही उसकी एकमात्र उपाय है। वर्ण-व्यवस्था भारतवर्ष की खासियत है। यदि उसे हम छोड़ दें तो हम अपने आदेश के प्रति अयोग्य सिद्ध होंगे और ईश्वरीय योजना को निष्फल करेंगे।

हाँ, एक बात सच है कि वर्ण-व्यवस्था को—ईश्वर की चाही वर्ण-व्यवस्था को—हम अङ्गीकार नहीं कर सके, हमारे अन्दर प्रेम धर्मपूर्ण

कलाओं से प्रकट नहीं हुआ। इसीसे व्यवस्था में निद्वेष आया, विविधता में विस्खलितता आई, एकता टूट गई और हम सङ्कुचित बन गये।

विविधता में ऐक्य, यह ईश्वरीय सन्देश है। हम एकता को भूले, आप विविधता को सन्देह-भरी दृष्टि से देखते हैं; क्या हम दोनों भूलते नहीं हैं?

आज वर्ण-व्यवस्था में तिरस्कार है, दम्भ है, और अहङ्कार है; हमारे अन्दर घुसी हुई अस्पृश्यता उसीका परिणामस्वरूप है। किन्तु चूँकि हम इस समय अस्पृश्यता को मिटाने की बात कर रहे हैं, इसलिए आप निश्चय समझ लें कि हम तिरस्कार, द्वेष, दम्भ और अहङ्कार को भी जला देना चाहते हैं। संसार में श्रेष्ठ और कनिष्ठ का भेद तो बनाही रहेगा, परन्तु श्रेष्ठ-कनिष्ठ की भावना का रहना अनिष्ट है। पवित्रता वहीं निवास करती है जहाँ नम्रता है, यह हमें जान लेना है। यदि वर्ण-भेद को मिटाने जा रहे हैं, तो धर्म-भेद को हम किस तरह बर्दाश्त कर सकेंगे? यदि ऐसा है तो फिर दया-धर्म को स्थान कहाँ, और स्वधर्म के मानी क्या होंगे?

जहाँ आदर्श का भेद हो, वहाँ ऊँच नीच के भेद रही नहीं सकते। पर जहाँ आदर्श-शिखर एक हो और उसके मार्ग पर हम कुछ दूर तक चले गये हों, वहाँ तो जरूर ही ऊँच-नीच स्थिति रहेगी। किन्तु उसके कारण अहंता या दीनता न उत्पन्न होनी चाहिए। क्या गुरु और शिष्य के बीच ऊँच-नीच-भाव नहीं हैं? क्या पापी और पुण्यवान् एक ही भूमिका पर हैं? जहाँ प्रेम है, वहाँ समता का खयाल ही नहीं होता; क्योंकि प्रेम विषमता को देखता ही नहीं।

हमने जिस तरह घर में अस्पृश्यता को स्थान दिया उसी तरह बाह्य जगत् के साथ भी हम अस्पृश्य रहे, यह जरूर हमारा पाप है। समुद्र-यात्रा करके, देश-देशान्तर से व्यापार-व्यवसाय करके हम उस पाप को नहीं धो सकते ; परन्तु हम उसका प्रायश्चित्त ज़रूर कर सकते हैं। और उसका तरीक़ा यह है कि देश-देशान्तर के प्रकाश का स्वागत करने के लिए हम खिड़की-दरवाजे खोल दें और तेरे-जैसे देश-देशान्तर के सज्जनों को अपने हृदय में स्थान देकर, संसार के दुःख से दुःखी होकर, दुनिया की सेवा के लिए स्वतन्त्र हो जायँ।

ऐ खुदा-परस्त अतिथि ! हम तुझे वन्दन करते हैं। हमारी सङ्कुचितता को दूर करने का हमें अवसर देने के लिए तू हमारा यह आतिथ्य स्वीकार कर और अपने हृदय के भावों को प्रकट कर; हमारे हृदय के भावों को समझ ले और हमारे मार्ग में प्रयाण करने में हमारा सहायक हो ! हम इतने स्वाश्रयी हों कि अपना मार्ग खुद ही निश्चय कर लें, किन्तु फिर भी ऐसे अहङ्कारी न हों जो हम तेरे-जैसे की सहायता स्वीकार न करें।

नमस्तेऽस्तु भगवन्नतिथिर्नमस्यः।

[६]

आज का स्त्री-धर्म

स्त्री-जाति की उन्नति ही में सम्पूर्ण समाज की उन्नति है। स्त्री-जाति की उन्नति होते ही गृह-संसार स्वर्गमय बन जाता है। स्त्री-जाति की उन्नति होते ही नवीन पीढ़ी का उत्कर्ष निश्चित समझिए। स्त्री-जाति की उन्नति होते ही सामाजिक जीवन सर्वांग-पूर्ण हुआ। स्त्री-जाति की उन्नति ही में इस देश का कल्याण भी आ जाता है। क्योंकि स्त्री और पुरुष एक ही समाज के दो अङ्ग हैं; दोनो का जीवन मिलकर ही सामाजिक जीवन बनता है। यदि दोनों में से एक अङ्ग की उपेक्षा की जाय तो समाज को पक्षाघात हो जाता है। यदि हमने दोनो अङ्गो को एकसे विकसित किये होते, तो आज स्त्रियो के प्रश्न पर इस तरह जुदा चर्चा करने की ज़रूरत न उपस्थित होती। आज स्त्री-जाति की उन्नति की चर्चा स्वतन्त्र रूप से करनी पड़ती है, जिसका कारण है वर्त्तमान सामाजिक दुरवस्था। स्त्रियों को समान स्वत्व मिलने के लिए लड़ने की आवश्यकता उत्पन्न होना इस बात को सिद्ध करता है कि हमारा सामाजिक और पारिवारिक जीवन गया-बीता हुआ है। गृह-जीवन में तथा समाज में भी प्रेम-मूलक एकता होनी चाहिए। यदि वह होती तो हमें आज न्याय की समता का विचार कभी न करना पड़ता। समता आदर्श न होना चाहिए, वह तो स्वाभाविक परिणाम है। जहाँ प्रेम और एकता है, वहाँ विषमता या विषमता का खयाल भी नही होता।

पर आज समाज की दशा विषम है। स्त्रियाँ पराधीन, आश्रित और अज्ञान दशा में पड़ी हैं। पुरुषों की अपेक्षा अधिक सुधरी हुई होने पर भी आज स्त्री का जीवन तेजस्वी नहीं है। स्त्री का स्वभाव अधिक कोमल, प्रेमल और अहिंसक है। स्त्रियो ने इन्हीं वृत्तियो का अधिकतर विकास किया है। यदि हिंसा जङ्गलीपन हो और अहिंसावृत्ति सुसंस्कृत अवस्था का लक्षण हो, तो कहना होगा कि स्त्री अधिक संस्कारवान है, अधिक सुधरी हुई है; और यदि स्वच्छन्दता की अपेक्षा संयम श्रेष्ठ हो, तो भी भारतवर्ष मे स्त्री का दर्जा ही उच्च गिना जायगा। स्वार्थ को दबाकर परोपकार को प्रधान पद देने मे उन्नति हो, तो कौटुम्बिक जीवन में स्त्री ही अधिक उन्नत है। स्त्री की बुरी दशा तो उसके परावलम्बन मे है। स्त्री के स्वतन्त्र होते ही उसके समस्त सद्गुण और हृदय की उन्नति एकाएक चमकने लग जायगी। मै नहीं कहना चाहता कि पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी आजीविका की चिन्ता मे पड़े; किन्तु आजीविका प्राप्त करने का साधन उनके हाथो में हो तो काफी है। आज यदि पुरुष-वर्ग आजीविका की चिन्ता का भार, आर्थिक स्वातन्त्र्य के सुन्दर नाम पर, स्त्रियों पर डाल दे तो वह उसको (पुरुष-वर्ग को) शोभा नहीं देगा। मेरा तो यही कहना है कि समाज में पुरुष से स्त्री की सेवा श्रेष्ठ है, अतः स्त्री का पद भी श्रेष्ठ होना चाहिए। स्त्री को यह जान लेना चाहिए कि उच्च वृत्ति सम्पादन कर लेने के कारण समाज का नेतृत्व स्वीकार करने का जो कर्तव्य उसे प्राप्त हुआ, उसके लिए उसे अपने-आप को योग्य बनाना चाहिए।

आज समाज के सम्मुख—संसार के समस्त समाज के सम्मुख भारी-से-भारी प्रश्न आ उपस्थित हुए हैं। सारे संसार में उथल-पुथल

हो गई है। सम्पूर्ण समाज की रचना नये सिरे से करने का प्रसंग उपस्थित हुआ है। पुराने समय में समाज के सम्मुख केवल पुराना आदर्श ही क़ायम रखने की चिन्ता रहती थी। उस समय अधिक विचार करने की आवश्यकता ही नहीं थी। जो कुछ था, उसे ही बनाये रखने का आग्रह रखने से सब काम चल जाता था। लेकिन आज यह स्थिति नहीं रही कि पुराना आदर्श उसी रूप में बना रहे। उसमे परिवर्तन होना ज़रूरी है। स्मरण रहे कि उसके समूल नष्ट कर देने से भी काम नहीं चल सकता। जिस तरह अमरीका के नीग्रो लोगो ने पूरी श्रद्धा से ईसाई-धर्म और अमरीकन रहन-सहन स्वीकार कर ली, इसी तरह यदि हम भी करना चाहते तो रास्ता सरल था; पर हम देखते हैं कि हमारे लिए यह रास्ता लाभदायक नहीं है। आज सारी दुनिया निराशा में डूबी हुई है। यह निश्चय नहीं होता कि कोई भी एक व्यवस्था कल्याण-कारक साबित होगी। यह तो हम देखते हैं कि हमारी समाज-रचना सफल नहीं हुई। अनुभव कहता है कि यूरोप की समाज रचना भी कल्याण-कारक नहीं है। हम यह भी देख चुके हैं कि रचना में या सङ्गठन में परिवर्तन कर देने से काम न चलेगा, बल्कि हमें मनुष्य के स्वभाव ही में परिवर्तन करना होगा। अबतक हमारा ख़याल था कि न्याय की तराज़ू पारस्परिक स्वार्थ की विषमता को दूर कर देगी, और दुनिया में शान्ति स्थापित हो सकेगी। अब हम देखते हैं कि धम का मूल न्याय नहीं, दया है। इस दया के आधार पर, पारस्परिक आदर के आधार पर, समाज की रचना नये सिरे से होनी चाहिए। हिंसा के जवाब में प्रतिहिंसा करना न्याय है, यह मानकर

अबतक हम हिंसा करते रहे। इससे न्याय का मूल तो हाथ न लगा, परन्तु हिंसा जरूर बढ़ गई। अब हिंसा के बदले क्षमा को आज़मा लेने को हमारा जी चाहता है। किन्तु इसको आजमायगा कौन? न्याय का बदला तो वीर ले सकता है, परन्तु क्षमा के लिए तो योद्धा की अपेक्षा भी अधिक उच्चकोटि के वीर की आवश्यकता है। वह वीरता कौन बतला सकता है? जिनके हाथ अभीतक ख़ून से अपवित्र नहीं हुए हैं, जिन्होंने नम्रता ही से अपनी उन्नति को प्राप्त किया है, जिन्होंने सेवा-द्वारा ही अपनी स्वार्थ-साधना की है, उस स्त्री-वर्ग ही से हम इस क्षमा-शक्ति की आशा रख सकते हैं। समाज का उद्धार उन्हींके हाथों हो सकता है। अहिंसा-धर्म का ठीक-ठीक अर्थ वही समझ सकती हैं; वही उसका पालन और प्रचार भी कर सकती हैं। अहिंसा-धर्म को धारण करने के लिए जिस श्रद्धा की ज़रूरत है वह तो स्त्रियों में है, किन्तु उसके लिए आवश्यक ज्ञान उन्हें अभी सीखना है। स्त्रियों में अहिंसा है, किन्तु वह तभी दिव्य प्रकार से चमकने लगेगी जब उनमें निर्भयता और स्वाश्रय भी आ मिलेगा। वे इस भ्रम को छोड़ दें कि वे अबला हैं। समाज के सम्मुख उपस्थित सभी प्रश्नों का उत्तर देने के लिए वे तैयार हो जायँ।

धर्म-संस्कार का प्रश्न सबसे भारी है। अभीतक हम यही मानते आये हैं कि धर्म को ताक में रखकर उच्च स्वार्थ और दूरन्देशी के नियमों ही से समाज की गाड़ी चल जायगी। किन्तु अब यह भ्रम दूर हो गया है। अब तो हमें निश्चय हो गया है कि यदि समाज का उद्धार होगा तो सिर्फ धर्म ही से हो सकता है। परन्तु समाज के सम्मुख आज

धर्म का शुद्ध स्वरूप नहीं है। स्त्रियों के लिए तो कितने ही पुराने संस्कार और तरह-तरह के वहम ही धर्म बन बठे है। वास्तव में वह धर्म ही नहीं जिससे सहिष्णुता, उदारता और भ्रातृ भाव उत्पन्न न हो। धर्म से तो विरोध मिट जाता है। मेरा यह निश्चित मत है कि वह धर्म ही नहीं जिसके नाम पर विरोध उत्पन्न होता है। प्रत्येक धर्म में शुद्ध तत्त्व तो ज़रूर होते हैं, परन्तु साथ ही उनमें कई अशुद्धियां भी घुस जाती है। उन्हें निकाल डालने के लिए सर्वदा धर्म-संस्कार की आवश्यकता है। यह धर्म-संस्कार तर्क बुद्धि से नहीं, शुद्ध हृदय मे होना चाहिए।

यदि धर्म-संस्कार हो जाय तो सामाजिक रिवाज और रूढ़ियों में सुधार करना हमारे लिए कठिन न होगा। सामाजिक दोषों को दूर करने की अपेक्षा श्रेयस्कर यही है कि हम ऐसी स्थिति उत्पन्न करदें, जिससे वे दोष उत्पन्न ही न हो सकें। सामाजिक अत्याचार धर्म-वृत्ति के द्वारा ही टाले जा सकते हैं। यह धर्म-वृत्ति हरेक युग में उत्पन्न होनेवाले साधु-सन्त हमें बतला देते हैं; पर उसको स्वीकार कर उसका प्रचार करने का काम तो स्त्रियाँ ही कर सकती हैं, क्योंकि वे हरेक वस्तु को मस्तिष्क के बजाय हृदय की दृष्टि से देख सकती हैं। इसलिए आज हिन्दुस्थान में जिस अहिंसा-धर्म का उदय हुआ है. उसका स्वीकार और प्रचार करने का उत्तरदायित्व स्त्रियों ही पर है, और अभीतक अपने जीवन में उन्होंने इस योग्यता को प्राप्त कर उसका विकास भी किया है। आज की स्त्रियाँ उसी काम में सम्पूर्ण शक्ति लगा दें, यही मेरी प्रार्थना है।

[७]

सुधार का मूल

रेल में कई बार भीड़ न होने पर भी लोग झगड़ा करते हैं। यदि हरेक मनुष्य अपने बैठने योग्य जगह लेकर बैठ जाय तो सभी सुख से बैठ सकें; पर कितने ही लोग बिना कारण स्वार्थी और मनुष्य-शत्रु होते हैं। उनका यह हट होता है कि लड़-भिड़कर जितनी जगह रोकी जा सके उतनी रोककर ही हम मानेंगे; फिर पर्वा नहीं, यदि उन्हें ऐसा करते हुए ज़रा भी आराम न हो रहा हो, बल्कि उन्हें उलटा दुःख भी उठाना पड़े। बेञ्च के ऊपर अधिक जगह रोकने के लिए यदि बिस्तर न हो तो वे पालथी ही मारकर बैठेंगे, और उस पालथी को भी इतनी पोली करेंगे कि पैरों की सन्धियाँ दुखने लग जायँ! जबतक उनकी लात दूसरे को न लग जाय, तबतक उनके मन में यह विश्वास ही नहीं होता कि हमारा स्वार्थ पूर्ण हो गया! यदि इसके बदले हरेक मनुष्य सौजन्य पूर्वक एक-दूसरे की सुविधा का खयाल रखते हुए सन्तोष-वृत्ति का विकास करे तो किसी को भी दुःख न हो और सभी आराम से प्रवास कर सकें।

शहरों और देहात में जब लोग घर बनवाते हैं, उस वक्त भी इसी प्रकार पड़ोसी-पड़ोसी में झगड़ा हो जाता है। उस जगह भी लोग सुख-दुःख अथवा सुविधा-असुविधा आदि का विचार छोड़कर महज़ स्वार्थ धर्म के प्रति वफ़ादार बने रहने के लिए कई बार लड़ते हैं।

यदि मेरी एक बालिश्त-भर ज़मीन चली जाने से मुझे कुछ भी हानि न होती हो और पड़ोसी को वह मिल जाने से उसकी उत्तम सुविधा हो जाती हो, तो भी मुझसे वह स्वार्थ-त्याग नहीं किया जाता; मेरा जी ही नहीं होता। कदाचित् मुझमें इस वक्त कहीं सद्बुद्धि का स्फुरण हो भी तो मेरे सगे-सम्बन्धी और पड़ोसी मुझे दुनियादारी की चतुराई सिखाने के लिए आते हैं—'तू पागल तो नहीं हो गया है ? इस तरह कर्ण-सा दानवीर बनकर परोपकार करने लगेगा तो लोग तुझे दिन-दहाड़े बाबाजी बना देंगे। कुछ बाल-बच्चों के लिए भी रक्खेगा या नहीं ? अरे ! उसका तो काम ही रुक रहा है, पाँच-सात सौ रुपये माँग ले उससे। तेरा तो हक हा है; छोड़ता क्यों है ? न दे रुपये तो सोता रहे अपने घर में। अरे हाँ, हमें कहाँ गरज़ पड़ी ? ज़मीन अपनी, कहीं भागे थोड़े ही जाती है।' स्वार्थ-धर्म की यह आज्ञा अस्वीकृत हो ही नहीं सकती। स्वार्थ-धर्म के आगे पड़ोसी-धर्म फीका पड़ता है अथवा नष्ट हो जाता है। इसीलिए इस युग का नाम कलियुग पड़ा है। कलि का अर्थ है कलह।

दो कुटुम्बों के बीच जब विवाह सम्बन्ध जोड़ा जाता है, तब भी यही दशा होती है। जो परकीय था वह सम्बन्धी हुआ, अतएव उसके साथ होना तो प्रेम धर्म का व्यवहार चाहिए; पर नहीं, वहाँ भी व्यवहार-रीति के कलह उत्पन्न होगी ही। मान-सम्मान में कहीं छोटी-से छोटी रीति भी रहने न पावे। मालिक के यहाँ गालियाँ भी सुननी पड़ती हों तो पर्वा नहीं, दफ़्तर में अफसरों की फटकारें नीचा सिर करके सुन सकते हैं, परन्तु समधी के पास से तो रीति के अनुसार

पूरी चीज़ें जरूर ही मिलनी चाहिएँ; नहीं तो दुलहे को लौटा ले जाने को तैयार हो जाते हैं। विवाह का मङ्गलाचरण होता है ईर्ष्या और डाह मे ! यही दशा है जातियों की। पारस्परिक अविश्वास और असीम स्वार्थपरता। किसीमें इतनी हिम्मत ही नहीं कि अपने स्वार्थ को छोड़ दे। यह कायरता ! जहाँ देखिए तहाँ यह बुराई फैली हुई है।

जब घरों में और जाति-पाँति में यह दशा है, तब राष्ट्रों-राष्ट्रों के बीच दूसरा और हो ही क्या सकता है ? यदि पड़ोसी राष्ट्र निर्बल हो तो उसपर जरूर ही आक्रमण करना चाहिए। यदि वह बलवान् हो तो उसका पड़ोसी सर्वदा भयभीत दशा में रहता है, बल्कि उसको कमज़ोर करने के लिए कोई षड्यन्त्र और उसके सम्मुख मृदुता करता रहता है। यह भी नहीं कि समान-बल पड़ोसी हों तो शान्ति से रहें। मनुष्य को समानता कब प्रिय लगती है ? वहाँ भी एक से दूसरा आगे बढ़ने के लिए प्रयत्न करता रहता है और अन्त में वहाँ भी अविश्वास और विरोध ! हरेक पक्ष यही कहता है, कि अपने बचाव तथा आत्म-रक्षण के लिए हमें इतना तो करना ही पड़ता है। दो प्रबल राष्ट्रों के बीच यदि एक छोटा-सा राष्ट्र हो, तब प्रबल राष्ट्र यों विचार करते हैं:— 'यदि मैं इसे न ले लूँगा तो वह (दूसरा) तो ज़रूर ही इसे समेट लेगा और इसकी सहायता पाकर बलिष्ठ बनकर मुझपर आक्रमण करेगा। इसलिए क्या बुरा होगा, यदि मैं ही अन्याय करके इसे भी ले लूँ ?' जितने साम्राज्य बढ़ते हैं, सब इसी नियमानुसार बढ़ते हैं।

स्वार्थ और अन्यायपूर्ण प्रतिस्पर्धा आज यूरोप में सर्वव्यापी हो गई है और यही सिद्धान्त उनकी राजनीति के मूल तत्त्व हैं। किन्तु

इससे यह मान लेना भूल है कि यह तो मनुष्य-स्वभाव ही है। भले ही यूरोप आज सुव्यवस्थित पाशविक शक्ति को सुधार मान ले, पर सच्चा सुधार तो प्रेम-धर्म और पड़ोसी-धर्म में ही है। हमें श्रद्धापूर्वक अपने अन्दर इस पड़ोसी-धर्म का विकास करना चाहिए। जो सज्जनता दिखलाते हों उनके साथ मैत्री और जो दुर्जन बन गये हों उनके साथ असहयोग करना, यही प्रेम-धर्म का नियम है। प्रेम-धर्म सहानुभूति रखता है, सहायता देता है, परन्तु दीन बनकर सहायता की अपेक्षा नहीं करता। प्रेम-धर्म अमर्याद है। हम जिसपर प्रेम करते हैं, यदि उसकी शक्ति बढ़ती है तो हमें भय नहीं होता; बल्कि हमारा मित्र जितना ही निर्बल होगा, उतने ही हम कमज़ोर माने जायँगे।

जहाँ अविश्वास का वातावरण हो, वहाँ उसे दूर करने के लिए प्रेम असाधारण धैर्य और सहिष्णुता का विकास करता है, नम्र बनकर वह चढ़ता है और असीम स्वार्थ-त्याग करके विजय को प्राप्त करता है। प्रेम-धर्म में गँवाना ज़रूर पड़ता है, परन्तु थोड़े दिन के लिए; अन्त में उसकी अक्षय विजय होती है। इस प्रेम-धर्म का उपयोग कुटुम्ब से लगाकर राष्ट्रों के सम्बन्ध पर्यन्त फैला देना, यही सब सुधारों का मूल है; और वही फल भी है।

---

[८]

सुधार की सच्ची दिशा

मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियाँ और उसकी सद्बुद्धि एक-दूसरे के अनुकूल (समरस) जब होंगी तब होंगी, आज तो वस्तु-स्थिति वैसी नहीं है। आज तो इन दोनों में विरोध है। आज तो जो मीठा लगता है वह पथ्य नहीं होता। जो सुखप्रद प्रतीत होता है वह कल्याणकर नहीं होता। जो प्रेय होता है वह श्रेय नहीं होता। कर्तव्य-मार्ग दुःखदायी लगता है और सुख का मार्ग हितकर नहीं लगता। हमारी स्वाभाविक वासनायें हमें आप ही आप पशु-जीवन की ओर खींचकर ले जाती हैं। ईश्वर ने मनुष्य को वह विवेक-बुद्धि दी है, जो पशु को नहीं दी। पशुओं को कार्याकार्य-विचार नहीं होता; मनुष्य को यह विचार करना पड़ता है। पर हमारी वासनायें कई बार इतनी प्रबल हो जाती हैं कि विवेक-बुद्धि को दबाकर वे तर्क-शक्ति को अपने अधीन कर लेती हैं और यह तर्क-शक्ति न्यायान्याय का किसी तरह विचार न करनेवाले पेट-भीरु वकील के समान वासनाओं का पक्ष लेती है। जो सुखकारी है वही कल्याणकारी है; जो प्रेम है वही श्रेय भी है—इस तरह की दलीलों की पूर्ति करने में तर्क-शक्ति खर्च होती है। त्याग के आनन्द को भूलकर भोग की लालसा वृद्धि पाती है। तर्क-शक्ति भी मधुरवाणी से कहती है—'मनुष्य-जन्म भोग ही के लिए तो है, नाना

प्रकार के विषयों का उपभोग करना मनुष्य का स्वत्व है। इस अधिकार का लाभ उसे ज़रूर उठाना चाहिए। भोग ही में तो मानव-जन्म की सफलता है। भोगक्षमता ही संस्कृति है, यही सुधार है।' इस तरह अधर्म को धर्म समझने से आत्मवञ्चना होती है।

इस तरह बहुतेरे लोग वासनाओं के वश हो गये हैं, क्योंकि किसको 'सु' और किसको 'कु' कहना यही नहीं सूझ पड़ता है। उच्छृ-ङ्खल मन को तर्क-शक्ति का अवलम्बन मिलने पर आनेवाली अनर्थ-परम्परा को कौन रोक सकता है? जिससे आत्म-संयम नहीं हो सकता, उसे मनुष्य-जाति कितना ऊँचा चढ़ा सकती है? इसकी कल्पना उस आदमी को किस तरह हो सकती है, जो आत्म-संयम को जानता ही नहीं? ऐसे मनुष्य मानव-जाति का ध्येय कैसे निश्चित कर सकते हैं? मानव-जाति का श्रेय क्या है? उच्च वृत्तियाँ कौनसी हैं? आर्य-जीवन कैसा होता है? अर्हत् पद का मार्ग कौनसा है? समाज का अन्तिम ध्येय क्या है? इन विषयों का निर्णय ऐसे अनधिकारी मनुष्य नहीं कर सकते। धन-लोभ के कारण कृपण का हृदय शून्य हो जाता है। उस-से यदि ये ही सवाल पूछेंगे तो वह कहेगा—"धन! द्रव्य ही तो मानव-जाति का ध्येय है। 'अर्थो हि नः केवलम्'।" शृङ्गार-पूर्ण उपन्यासों को पढ़नेवाले उन्मत्त मनुष्य से यदि हम पूछेंगे तो वह भी तुरन्त "रम्या रामा मृदुतनुलता" की बातें करने लगेगा। इसी तरह क्रिकेट और टेनिस के खेलनेवाले कहेंगे कि हमारे खेलों ही से मनुष्य की उन्नति होगी। गाना-बजाना, ताश या शतरञ्ज खेलना, घुड़दौड़ करना और चिड़ियाँ पालना इत्यादि धुनों ही में जो लोग मस्त रहते हैं, यदि उन्हें

पूछा जाय कि 'भाइयो ! मानव जाति का अन्तिम ध्येय क्या है ?' तो वे भी सिवा उसी एक उत्तर के और कुछ न कहेंगे।

ऐसे अनासक्त साम्यस्थित मन वाले महात्मा ही, जिन्होंने अपनी पशु-वृत्ति पर विजय प्राप्त की है और जिनका मन क्षुद्र स्वार्थ के वश नहीं है, यह ठीक-ठीक समझ सकते हैं कि मनुष्य का श्रेय किसमें है। जिस तरह वादी-प्रतिवादी यह नहीं देख सकते कि कलह में न्याय किसके पक्ष में है, निष्पक्ष पञ्च ही उसे देख सकते हैं, इसी तरह मानव-जाति का ध्येय क्या है, इस बात को निरपेक्ष और धर्मज्ञ स्मृतिकार—समाज के व्यवस्थापक ही—बतला सकते हैं। मनुष्य-जाति अपनी पशु-वृत्ति पर विजय प्राप्त करके कितनी ऊँची चढ़ सकती है यह बुद्ध, ईसा और तुकाराम जैसे अनेक महात्माओं ने प्रत्यक्ष उदाहरण से बतला दिया है। संसार के सभी देशों में, सभी जातियों में, सभी धर्मों में और सभी युगों में ऐसे दैवी पुरुष उत्पन्न हुए हैं। इसपर से सिद्ध है कि प्रत्येक मनुष्य प्रयत्न करने पर उस भूमिका तक पहुँच सकता है।

कहा जाता है कि मनुष्य-प्राणी अपने पुरुषार्थ से क्या क्या कर सकता है, कहाँ तक अपनी उन्नति कर सकता है, इत्यादि का यथार्थ पाठ देने के लिए तथा मनुष्य-प्राणी के लिए उसका ध्येय निश्चित कर देने के लिए परमेश्वर अवतार लेकर, मानव-देह धारण करके, मानवी कृतियों को करता है। इस कथन का रहस्य भी यही है। ध्येय मानव-जाति की उन्नति की परिसीमा है। वह किसी खास समय, खास व्यक्ति और उस व्यक्ति की शक्ति के अनुसार बदलता नहीं है। एक भी मनुष्य

यदि इस ध्येय को प्राप्त करके दिखा दे तो समझना चाहिए कि यह असम्भव नहीं है।

इस दृष्टि से देखें तो मनुष्य के जीवन-क्रम के दो विभाग होते हैं। एक ओर विषय-लोलुपता, आहार-निद्रा-भय आदि पशु व्यवहार-परायणता, स्वार्थ तथा हठ होता है; दूसरी ओर निर्विषयता, निर्भयता, इन्द्रिय-दमन, परोपकार-परायणता और कर्त्तव्य होते हैं। हरेक को अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुसार इस उच्च ध्येय को कार्य मे परिणत करने का प्रयत्न करना चाहिए। परन्तु अपने पीछे रहनेवालो को जङ्गली या पापी कहकर उनकी हँसी न उड़ाना चाहिए। इसी प्रकार अपनेसे अधिक उत्साही व्यक्तियों को भी पागल न कहना चाहिए। और चाहे कुछ भी हो, उच्चतम ध्येय को किसी भी समय अशक्य-अप्राप्य क़रार देना तो सरासर भूल है। क्योंकि यदि हम ध्येय को एकबार भी उसके उच्च आसन से नीचे गिरा देंगे तो उसका शत-मुख नहीं, अनन्त मुख से विनिपात हो जायगा। जो स्थिर नहीं वह ध्येय काहे का? और उसके लिए स्नेह, दया, सुख और जीवन इन सभी को तिलाञ्जलि देने को तैयार होनेयोग्य निष्ठा मनुष्य में किस तरह उत्पन्न हो? इसलिए ध्येय को अपनी ऊँचाई से कभी न गिराना चाहिए। आराध्यदेवता के समान उसीकी हमेशा उपासना होनी चाहिए और उसके साथ उत्तरोत्तर सालोक्य, सान्निध्य, सारूप्य और सायुज्य प्राप्त करने का प्रयत्न होना चाहिए। जो पीछे रह गये हों उन्हें आगे लेजाना चाहिए। जो आगे बढ़ गये हों उन्हें उससे भी आगे बढ़ना चाहिए। ध्येय को पा जाने तक किसीको कभी न रुकना चाहिए।

सभी सामाजिक सुधार इस उच्च ध्येय की, कर्त्तव्य की, इन्द्रिय-निग्रह की और संयम की दिशा में होंने चाहिएँ। जो नीचे हों उन्हें ऊँचे उठा देना चाहिए। जो ऊँचे हों उन्हें नीचे गिराना, पवित्र ध्येय को छोड़कर सुखप्रद अधोगामी ध्येय की उपासना करना, तो सरासर अधःपात है।

आजकल सुधार ही को सब चाहते हैं, परन्तु 'सु' और 'कु' के बीच के भेद को तो कोई भी नहीं देखते। पिनल-कोड ने जिसे अपराध नहीं माना, कल पास होकर आज ही से शैब गांठनेवाले डाक्टरों ने जिसे निषिद्ध नहीं गिना, वह सब करने का हमें स्वत्व है—हम वह ज़रूर करेंगे। पूर्व-परम्परा, उच्च मनोवृत्ति, जिसकी रक्षा और विकास आज तक किया, उस पवित्रता की भावना, शास्त्र (रूढ़ियों का तो पूछना ही नहीं) सबको हम धता बता देंगे। यह है आज के हमारे समाज-सुधारकों की मनोवृत्ति। यह मैं नहीं कहना चाहता कि इनके कार्यक्रम के सभी विषय त्याज्य हैं। मगर, इन सभी की जड़ में जो वृत्ति हैं, उसके प्रति मेरा विरोध अवश्य है। अपने सभी सामाजिक व्यवहार में न्याय और उदारता होनी चाहिए। किसीपर टीका-टिप्पणी करते समय—मनुष्य-प्राणी स्खलनशील है, इन्द्रिय समूह बलवान् है, परिस्थिति के सामने मन का निश्चय स्थिर रहना कठिन है, इन सभी बातों पर ध्यान देकर, यदि किसीसे कोई भूल हो गई हो तो—उसपर क्रोध और तिरस्कार हमें न करना चाहिए; बल्कि दया, अनुकम्पा और सहानुभूति ही दिखानी चाहिए। जहाँ सामाजिक अन्याय हो रहा हो, वहाँ अनाथों का रक्षण-पालन करना भी हमारा कर्त्तव्य है। सामाजिक आदर्श क

नीचे गिराना कदापि योग्य नहीं है। सुधार जो कुछ भी करे, वह ऐसा हो जिससे सामाजिक न्याय, पवित्रता और सामर्थ्य बढ़े।

---

[९]

संयम में संस्कृति

संयम संस्कृति का मूल है। विलासिता, निर्बलता और अनुकरण के वातावरण में न संस्कृति का उद्भव होता है और न विकास ही। पचीस वर्ष तक दृढ़ ब्रह्मचर्य रखनेवाले की सन्तान जैसी सुदृढ़ होती है, उसी तरह संयम के आधार पर निर्माण की हुई संस्कृति प्रभावशाली और दीर्घजीवी होती है।

ऋषियों ने तपस्या और ब्रह्मचर्य के द्वारा मृत्यु के ऊपर विजय प्राप्त करके एक अमर संस्कृति को उत्पन्न किया। बुद्धकालीन भिक्षुओं की, योगियों की, तपश्चर्या के परिणाम-स्वरूप ही अशोक के साम्राज्य का और आर्य संस्कृति का विस्तार हो पाया। शंकराचार्य की तपश्चर्या से हिन्दू-धर्म का संस्करण हुआ। महावीर स्वामी की तपस्या से अहिंसा-धर्म का प्रचार हुआ। सादा और संयमी जीवन व्यतीत करके ही सिख गुरुओं ने पञ्जाब में जागृति की। त्याग के झण्डे के नीचे ही सीधे-सादे मराठों ने स्वराज्य की स्थापना की। बङ्गाल के चैतन्य महाप्रभु मुख-शुद्धि के लिए एक हर्रे भी न रखते थे, उन्हींसे बङ्गाल की वैष्णव-संस्कृति विकसित हुई। संयम ही में नई संस्कृति उत्पन्न करने का सामर्थ्य है। साहित्य, स्थापत्य, सङ्गीत, कला और विविध

धर्म-विधियाँ संयम ही की अनुगामिनी हैं। पहले तो संयम कर्कश और नीरस लगता है, परन्तु उसीसे संस्कृति के मधुर फल हमें प्राप्त होते हैं।

जो कला के पक्षपाती संयम को अप्रतिष्ठित कर देना चाहते हैं, वे संस्कृति की जड़ ही पर कुठाराघात करते हैं।

---

[१०]

पञ्च महापातक

शास्त्रों में अनेक तरह के पापों का वर्णन है। झूठ बोलना, हिंसा करना, चोरी करना इत्यादि अनेक पाप हैं। किन्तु पापों का एक और भी प्रकार है, जिसका नामोच्चारण और निषेध होना जरूरी है। ये पाप इन सामान्य पापों से कम भयङ्कर नहीं हैं। भयभीत दशा में रहना, अन्याय सहना, पड़ोसी पर होते हुए अन्याय को चुपचाप देखते रहना, आलस्यमय जीवन व्यतीत करना और अज्ञान को दूर करने का प्रयत्न न करना—ये भी पाँच महापाप हैं। इनमें अपनी आत्मा ही के प्रति द्रोह है। संसार में जहाँ-जहाँ अन्याय होता है, वहाँ-वहाँ अत्याचार करनेवाला तो जरूर ही पापी होता है, पर अत्याचार को सह लेनेवाला भी कम पाप नहीं करता। जो मनुष्य स्वयं दुर्बल या डरपोक बनकर दूसरों को अत्याचार करने के लिए ललचाता है, वह भी समाज का कम द्रोह नहीं करता। यात्री-समूह में जो मनुष्य सबसे धीरे चलता हो, सभी समुदाय को उसीकी चाल से चलना पड़ता

है। निर्बल लोग सङ्घ की गति को रोकते हैं। ठीक इसी तरह, जो लोग मनुष्य की जीवन-यात्रा में ढीले और डरपोक होते हैं, वे भी मनुष्य की प्रगति को रोकते हैं। जैसे हम निर्बलों का साथ पसन्द नहीं करते, वैसे ही उन्नति-मार्ग में चलनेवाली जातियाँ निर्बल और अन्याय-सहिष्णु लोगों को पसन्द नहीं करतीं।

× × ×

परन्तु मानव-समुदाय में पसन्दगी करना किसीके हाथ में नहीं। इस सङ्घ को तो ईश्वर ही ने तैयार किया है और वही स्वयं इसका नेता भी है। इसलिए जितने ही हम इस सङ्घ से पीछे रहेंगे, उतने ही हम उस सङ्घ-नायक के द्रोही होंगे।

× × ×

अज्ञानी रहना भी एक महापाप है। वह भी सङ्घ-द्रोह या समाज-द्रोह ही होगा, यदि हम उतना ज्ञान भी प्राप्त न करलें कि जितना हम कर सकते हैं, अथवा जितना जीवन-यात्रा के लिए निहायत जरूरी है। विशेषकर जिनके सिर पर अनेक मनुष्यों को राह बतलाकर उन्हें ले चलने का उत्तरदायित्व पड़ा हुआ है, जो समाज के अग्रगण्य नेता समझे जाते हैं, यदि वे संसार की स्थिति से, समाज के वर्तमान आदर्श से और संसार के सन्मुख समुपस्थित बड़े-बड़े प्रश्नों से अभिज्ञ न रहें, तो उन्हें वही पाप लगेगा जो समाजघात का होता है। हिन्दू-समाज में राजा और साधु-वर्ग दोनों समाज का अगुआपन करते आये हैं। एक श्रीमान् होता है, दूसरा अकिञ्चन। एक बड़े परिवारवाला दूसरे के परिवार का ही नहीं होता। एक सत्ता के बल पर कार्य करता है,

दूसरा सत्य के बल पर। एक में प्रभुता होती है दूसरे में होता है वैराग्य। ऐसे परस्पर-भिन्न जीवन वाले और भिन्न आदर्श वाले वर्ग के हाथ में समाज का अगुआपन सौंपकर प्राचीन काल में समाज-व्यवस्थापकों ने समाज की उन्नति का मार्ग सुरक्षित कर दिया था। किन्तु दुर्भाग्य-वश इन दोनों वर्गों को उनकी सम्पूर्णता के भ्रम ने पछाड़ा। दोनों वर्गों ने अज्ञानी रहने का पाप किया और समाज-द्रोह उनके सिर पर आ पड़ा। साधुगण षट्दर्शन-प्रवीण भले ही हों, भले ही दश ग्रन्थ उन्हें मुखाग्र हों, किन्तु जबतक ये जगत् की परिस्थिति को न समझेंगे, समाज की नब्ज की परीक्षा न कर सकें, समाज को उसकी अपनी भाषा में यह न समझा सकें कि उनकी उन्नति का मार्ग किधर से होकर आता है, तबतक वे अज्ञानी ही हैं। स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ जैसे साधुओं की इतनी प्रतिष्ठा क्यों हुई? इसीलिए कि वे अपने सामाजिक कर्तव्यों को पहचानते थे।

राजाओं का भी ऐसा ही है। पुरुषार्थ के बाद लक्ष्मी आती है, इस बात को भूलकर लक्ष्मी इकट्ठी करने की धुन में वे पुरुषार्थ को खो बैठे हैं। समाज का नेतृत्व करने के बदले, उसे दबाने ही में उन्होंने अपनी शक्ति का व्यय किया है।

---

[११]

खून और पसीना

हम शरीर का मैल पानी से धो सकते हैं, कपड़ों का मैल साबुन से मिटा सकते हैं, बर्तनों के दाग़ इमली या किसी अन्य खटाई से मिटा सकते हैं, परन्तु सामाजिक दोष और राष्ट्रीय पाप किस पदार्थ से धोये जा सकते हैं ? उसके लिए शाब्दिक प्रायश्चित्त ही काफ़ी नहीं है। नदियों या समुद्र में जाकर स्नान कर लेने से काम नहीं चल सकता। वह ठेठ अन्तःकरण के प्रायश्चित्त से, आन्तरिक परिवर्तन से ही साफ़ हो सकता है। राष्ट्रीय और सामाजिक पाप को धोने के लिए साधारण पानी काम नहीं दे सकता, वह तो हमारे ख़ून और हमारे पसीने से ही धोया जा सकता है !

इसीसे ईश्वर की योजना के अनुसार प्रत्येक धर्म की स्थापना के पूर्व मनुष्यों का गरम खून बहा है। खून की दीक्षा ही से हृदय पलटता है और पाप धुल जाते हैं। ख़ून ही से इस्लाम-धर्म स्थापित हुआ, ख़ून ही से यूरोप जैसी कड़ी ज़मीन में ईसाई-धर्म की जड़ मज़बूत हुई, ख़ून ही से सिख-धर्म फूला-फला, और ईश्वरेच्छा यही मालूम होती है कि सत्याग्रह भी ख़ून ही के द्वारा विश्वमान्य होगा।

ख़ून और पसीने में कोई भेद नहीं है। जैसे दूध और घी दोनों ख़ून और मांस के निचोड़ हैं, वैसे ही पसीना भी मनुष्य के खून ही का द्रव्य है। किसीपर ज़बरदस्ती करके उससे सेवा लेना, उसका पसीना

बहाना, उसका वध करने के समान ही है। फ़र्क यही है कि वह सुभग हुआ, सूक्ष्म और धीरे-धीरे असर करनेवाला है। गुरु का-बाग़ में डण्डों की मार से खून बहाने और हिन्दुस्थान की दीन प्रजा को अपने सैनिक खर्च को चलाने के लिए निचोड़ डालने में कोई तात्विक भेद नहीं है। इसी प्रकार अफ्रिका के जङ्गली मनुष्यों को मारकर खाने और सेठों के गुलामों की मज़दूरी से पैसे खाने में भी कोई तात्विक भेद नहीं। किसी देश की प्रजा को गुलाम बना, उससे ज़बरदस्ती मजदूरी लेकर, उसे शर्तबन्द कुलियों की हालत को पहुँचा देना भी उतना ही बड़ा मनुष्य-वध है, जितना बड़ा कि किसी देश पर चढ़ाई करके उसके लाखों निवासियों को जान से मार डालने में है।

दूसरे के खून को बहाने के समान कोई महापाप नहीं। इसी तरह इच्छापूर्वक और ज्ञानपूर्वक, अपने खून का बलिदान करने के बराबर प्रायश्चित्त भी नहीं। जिस प्रकार दूसरे का खून लेने के बदले उसका पसीना लेने का एक नया तरीक़ा संसार में निकला है, उसी प्रकार अपने खून का बलिदान करने के बजाय अपना पसीना दे देना अधिक सशास्त्र प्रायश्चित्त है। पापी मनुष्य जब चाहे तभी दूसरे का खून कर सकता है; परन्तु दूसरे का पसीना तो उसके सहयोग ही से उसे मिल सकता है। इसके विपरीत, जहाँ प्रायश्चित्त में हम खून देने को तैयार होते हैं वहाँ हम अपना खून तभी दे सकते हैं जब ज़ालिम हमें सहायता करे। पञ्जाब-सरकार की सहायता न होती तो शूरवीर अकालियों को धर्म के लिए अपना खून अर्पण करने का अवसर कैसे

मिलता ? परन्तु हम अपना पसीना तो जब चाहें तभी स्वेच्छा से बलिदान में दे सकते हैं। इसमें अत्याचारी की सहायता की आवश्यकता नहीं। राष्ट्रीय प्रायश्चित्त, आत्मशुद्धि के लिए, दैवी स्वतन्त्रता के प्रीत्यर्थ बलिदान में अपना पसीना, अपना परिश्रम, अविश्रान्त परिश्रम अर्पण करने के लिए अपने प्रति निर्दय बनकर काम करने ही का नाम रचनात्मक कार्यक्रम है। रचनात्मक कार्य की वीरता बाहर से नहीं दीखती, किन्तु इससे उसका महत्व भी कम नहीं हो जाता। जिसे स्वराज्य की आवश्यकता हो, उसे सदा अपना खून देने की तैयारी रखनी चाहिए और जबतक वैसा मौका नहीं मिलता, रचनात्मक कार्य में अपना पसीना बहाते रहना चाहिए, और साथ ही यह निश्चय कर लेना चाहिए कि मैं न तो किसी का खून बहाने का पाप करूँगा और न किसीसे उसका पसीना बहाकर उससे अनुचित लाभ ही उठाऊँगा।

---

[१२]

परशुराम और बुद्ध

जिस प्रकार द्रौपदी और सीता दो जुदे-जुदे आदर्श हैं, उसी प्रकार राम और कृष्ण भी जुदे-जुदे आदर्श हैं। प्राचीन काल से हम आदर्शों के साधर्म्य और वैधर्म्य, साम्य और वैषम्य को देखते आये हैं। अन्त को हमने दोनों आदर्शों का सार अपने जीवन में उतारकर इन दोनों का समन्वय कर डाला है। जिस दिन यह समन्वय हमने किया, उसी दिन 'राम-कृष्ण' यह सामाजिक नाम हमें

सूझा। जिस दिन हमें यह दिखाई दिया कि जो राम है वही कृष्ण है, जो शान्ता है वही दुर्गा है, जो शिव है वही रुद्र है, जो जनार्दन है वही विश्वेश्वर है, उस दिन हिन्दू तत्व-ज्ञान को समाधान हुआ; तात्विक खोज में एक पूर्ण विराम मिला। पूर्ण विराम से नया वाक्य शुरू होता है। दो आदर्शों के विवाह से नई सृष्टि उत्पन्न होती है।

परशुराम और बुद्ध दोनों विष्णु के ही अवतार माने जाते हैं। पर हम उन्हें अपने कल्पना-क्षेत्र में कभी एक-दूसरे के नज़दीक लाये हैं? परशुराम और बुद्ध! इन दोनों में भला कुछ भी साधर्म्य या वैधर्म्य है?

परशुराम ब्राह्मण-क्षत्रिय हैं, भगवान् बुद्ध क्षत्रिय-ब्राह्मण हैं। परशुराम ने ब्राह्मण होते हुए मन्यु (क्रोध) को आज़ादी देकर शारीरिक बल पर आधार रक्खा। शाक्य मुनि ने क्षमा को प्रधान पद देकर आत्मिक बल का गौरव बढ़ाया। परशुराम को क्षत्रिय की सत्ता प्रजापीड़क मालूम हुई। ईश्वर ने मनुष्य को दो ही बाहु दिये हैं और सो भी उद्योग के लिए। क्षत्रिय लोग सहस्रबाहु हो जायँ और हरेक बाहु शस्त्र धारण करे तो बेचारा दीन समाज कहाँ जाय? रक्षा करना क्षत्रिय का काम है; पर वही जब प्रजाभक्षक हो जाते हैं तब प्रजा की रक्षा कौन करे? परशुराम ने सोचा कि क्षत्रियों का शासक ब्राह्मण है। बात सच है, परन्तु क्षत्रियों का शासन करते हुए ब्राह्मणों को अपना ब्राह्मणत्व हरगिज न गँवा बैठना चाहिए।

परशुराम हाथ में भारी परशु लेकर सहस्रबाहु की भुजायें काटने लगे। क्षत्रियों की पीड़ा मिटाने के लिए क्षत्रियों को इक्कीस बार पीड़ित किया।

परशुराम ने क्षत्रिय के तमाम गुण प्राप्त किये थे। क्षत्रिय के मानी हैं सिपाही। सिपाही को चाहिए कि वह अपने सरदार का हुक्म तुरन्त बजा लावे। मातृ-भक्त परशुराम ने पिता का हुक्म होते ही माता का सिर धड़ से उड़ा दिया। ब्राह्मण ऐश्वर्य से दूर रहते हैं। क्षत्रिय ही पृथ्वी को जीतता है और दान करता है। परशुराम ने जीत और दान का ही रास्ता पसन्द किया।

अब बुद्ध को लीजिए। उन्होंने राज्य का त्याग कर दिया। अपनी शान्ति के द्वारा मार (काम) पर विजय प्राप्त की, करुणा का प्रचार किया। परशुराम के कारण क्षत्रिय भयभीत हो उठे और उन्होंने आत्म-रक्षा के लिए संघ-बल का साम्राज्य स्थापित किया। भगवान् बुद्ध की बदौलत उनके शिष्य निर्वैर हो गये और उन्होंने अभय का साम्राज्य स्थापित किया।

परशुराम के कार्य का असर उनके समय में जो कुछ हुआ हो, आज तो नहीं के बराबर है। परशुराम के कारण साम्राज्य की कल्पना उत्पन्न हुई, साम्राज्य की कल्पना ने दिग्विजय का मोह पैदा किया, और दिग्विजय की कल्पना का अर्थ है निरन्तर विग्रह। जैसा कि भगवान् बुद्ध ने धम्मपद में कहा है, विजय कलह का मूल है। क्योंकि पराजित व्यक्ति के हृदय में अपमान का काँटा बराबर चुभता रहता है और वह दुनिया को शान्ति नहीं प्राप्त होने देता। भगवान बुद्ध का असर परशुराम से अधिक गहरा और व्यापक हुआ। परशुराम हिंसा-मार्गी थे, बुद्ध अहिंसामार्गी। हिंसा में वीर्य नहीं। हिंसा ने अबतक न तो किसी अच्छे तत्व का नाश किया है न किसी बुरे तत्व का। हिंसा

ने जितना दुर्जनों के शरीर का नाश किया है, सज्जनों के शरीर का भी उतना ही नाश किया है। परन्तु दुनिया की सज्जनता और दुर्जनता हिंसा से अस्पष्ट ही रही है।

अहिंसा की विजय स्थायी होती है, पर कब ? जब राजसत्ता की सहायता के बिना हो। सत्य और सत्ता परस्पर-विरोधी हैं। जब-जब सत्य ने सत्ता की सहायता ली है, तब-तब सत्य अपमानित हुआ है और अपङ्ग बना है। सत्य का शत्रु असत्य नहीं है। असत्य तो अभाव-रूप है, अन्धकार-रूप है। सत्य को असत्य से लड़ना नहीं पड़ता। जहाँ सत्य का प्रकाश नहीं पहुँचता, वहीं असत्य का अन्धकार होता है। असत्य का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है। सत्य का शत्रु है सत्ता। परशुराम ने सत्ता के द्वारा—बल के प्रभाव के द्वारा—सत्य का अर्थात् न्याय का प्रचार करना चाहा। बुद्ध भगवान् के अनुयायियों ने भी साम्राज्य की प्रतिष्ठा के द्वारा सत्य का प्रचार करना चाहा। तब सत्य लज्जा से संकुचित हो गया।

अब समय आया है कि परशुराम की न्याय-निष्ठा और बुद्ध भगवान की अवैर निष्ठा का सम्मेलन हो। मन में रत्तीभर द्वेष या विष रक्खे बिना अन्याय का प्रतिकार करना, सत्ता से जूझना, यही आज का युगधर्म है। क्या यही सत्याग्रह नहीं है ?

[२३]

एशिया की साधना

दक्षिण में ब्राह्मण-अब्राह्मण का झगड़ा कितने ही वर्षों से चल रहा है। ब्राह्मणों को तो हम जानते ही हैं। परन्तु अब्राह्मण-वर्ग कहाँसे उत्पन्न हो गया? अब्राह्मण नाम की कोई एक जाति तो है नहीं, फिर भी एक अब्राह्मण-पक्ष खड़ा हो गया है। ब्राह्मण और अब्राह्मण के प्रश्न में ज़रा भी पड़े बिना हम कह सकते हैं कि ब्राह्मणों में ब्राह्मणत्व का अभिमान और इस बात का भान कि हम दूसरों से जुदे हैं, अब्राह्मण-वर्ग के खड़े होने ही का एक कारण है। ब्राह्मणों में यह जाति का अभिमान तीव्र होने के कारण दूसरों में विरुद्ध भावना पैदा हुई है।

आज की हमारी एशिया-विषयक भावना भी ऐसी ही है। जबसे यूरोप के लोग भौतिक शास्त्रों और आसुरी राजनीति में निपुण हुए, तब-से उन्होंने अपने अन्दर परस्पर मत्सर और वैर के होते हुए भी साधारण तौर पर अपनी एकता को अच्छी तरह कायम रक्खा है, और यूरोप ने बाहरी देशों पर धावा बोल दिया है। इस आक्रमण का शिकार हुए लोगों में अपने अन्दर ऐक्य कर लेने की भावना आगे-पीछे अवश्य हो जायगी; और यही कारण है जो हमारे अन्दर एशिया की एकता की कल्पना फैलने लगी है। एशिया की एकता की कल्पना के मूल में यदि यही एक कल्पना हो तो भी वह एकता सकारण तो मानी जा सकती है, परन्तु होगी वह कृत्रिम ही।

परन्तु एशिया की एकता यूरोपियनों के उत्कर्ष जितनी आधुनिक नहीं; वह बहुत ही पुरानी और गहरी है। चीन और जापान, रूस और मध्यएशिया, तुर्किस्तान, अरबस्तान, ईरान और हमारा हिन्दुस्तान—ये सभी देश प्राचीन काल से परस्पर एकता के सूत्र से बँधे हुए हैं। पर उस वक्त यूरोप जुदा नहीं था। यूरेशिया (यूरोप+एशिया) एक अखण्ड भूखण्ड था और, यद्यपि आज वह उतना अखण्ड न रह गया हो, तो भी, अन्त में, वह अखण्ड होने ही वाला है।

कितने ही लोगों के मन में यह विचार आता है कि अभी हमें स्वराज्य नहीं मिला, हमारी म्युनिसिपैलिटियाँ भी हमारे हाथ में नहीं हैं, घर के अन्त्यजों को हम समाज में सम्मिलित न कर सके—ऐसी स्थिति में सारे एशिया के लिए कहाँ विचार करते फिरें? परन्तु यह आक्षेप ठीक नहीं है। संसार की आज की स्थिति का विचार करके भविष्य का विचार करते समय यदि समस्त संसार के साथ हमारे सम्बन्ध ध्यान में लेकर विचार किया जाय तो ही हमें अपना मार्ग साफ़ दिखाई दे सकता है। फिर हम बाहरी संसार से चाहे कितने ही जुदा रहना चाहते हों, तो भी संसार कहाँ ऐसा है जो हमें जुदा रहने दे? और हमारा सम्बन्ध भी ऐसी सल्तनत के साथ जुड़ा है जो बिल्ली की तरह एक-एक घर के दूध और घी को चख आती है। इसलिए इस बात का भी विचार कर लेना जरूरी है कि आज पड़ोसी देशों के साथ हमारा सम्बन्ध किस तरह का है, और यदि हमारी परिस्थिति हमारे कब्जे में आ जाय तो हम उनके साथ कैसा सम्बन्ध रक्खेंगे?

बहुतेरों का कहना है कि यूरोपियन और हिन्दुस्तानी दोनों लोगों के हित एक-दूसरे के विरोधी होने के कारण दोनों जातियाँ चाहे जितनी लड़ें, परन्तु दोनों का जीवन के आदर्श के विषय में खास तरह का एक मत है। दोनों के राजकीय आदर्श और सामाजिक कल्पनाओं में, व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो, एशिया के अन्य देशो की अपेक्षा साम्य और आकर्षण अधिक है। चीनी और भारतीय लोगों में जितनी सामाजिक एकता है, उससे कहीं अधिक यूरोपियन और भारतीय लोगों में है। हिन्दू-धर्म और ईसाई-धर्म इन दोनों में जितना साम्य है, उतना हिन्दू-धर्म और इस्लाम में नहीं। राष्ट्रीय अथवा सामाजिक आकर्षण देखते हुए, हम एशिया के और देशों की अपेक्षा यूरोप के अधिक निकट हैं। इसलिए हमें यूरोप के साथ लड़कर भी अपना सम्बन्ध बढ़ाना चाहिए। एशियाई एकता भौगोलिक अथवा प्रादेशिक एकता है, परन्तु यूरोप के साथ हमारी एकता उच्च दृष्टि से देखने पर सांस्कृतिक अथवा जातीय है। जैसे एक लकड़ी के दो सिरे परस्पर-विरुद्ध दिशाओं में होते हुए भी लकड़ी तो एक ही है, उसी तरह यूरोपियन और भारतीय आदर्श, परस्पर-विरोधी होने पर भी, एक ही आर्य-आदर्श के वंशज हैं।

यह दलील निःसार नहीं है। यूरोप की वर्त्तमान संस्कृति आसुरी है (राक्षस नहीं) और हिन्दुस्थान की संस्कृति आधारभूत आदर्श दैवी है; यदि यही मान लिया जाय तो भी देव और असुर दोनों भाई-भाई हैं, यह बात हमारे पुराणकर्ताओं ने ही स्वीकार की है।

यूरोप के साथ हमारा परिचय अनिच्छित रीति से बढ़ा, इसलिए हम यूरोप के साथ थोड़े-बहुत अंशों में परिचित हुए। इसी तरह

इस्लाम के साथ भी हमारा परिचय अनिच्छापूर्वक ही हुआ, और हम इस्लाम की क़दर करना सीखे। अब ईश्वर का कहना है कि संसार की एकता का अनुभव करने के लिए चीनी संस्कृति के साथ स्वेच्छापूर्वक परिचय करना है, या मैं जबरदस्ती करा दूँ ? यदि अपने आप परिचय बढ़ाओगे तो स्वतन्त्र रहोगे; जबरन बढ़वाना चाहोगे तो उसका मूल्य देना पड़ेगा।

यदि एशिया, यूरोप के सर्वभक्षी धनलोभ और सत्तालोभ से डरकर, यूरोप का सामना करने के लिए एक हो जाय, तो वह आसुरी सङ्घ होगा; क्योंकि वह सङ्घ यूरोप की तरह ही स्वार्थमूलक होगा, जिसमें क्षण-क्षण में सन्धि और विग्रह के रङ्ग बदलते रहेंगे और अन्त में सारा यूरोप एक ओर और सारा एशिया दूसरी ओर होकर एक ऐसा महायुद्ध या अतियुद्ध चेतेगा कि जिसके अन्त में मनुष्य-जाति और मानवी संस्कृति का लगभग संहार हो जायगा और हजारों वर्षों का मानव-पुरुषार्थ मटियामेट हो जायगा। सर्वोदय का आदर्श अपने सामने रखनेवाला भला ऐसा क्यों होने देगा ?

यूरोप का विरोध करे या न करे, मनुष्य-जाति की एकता को दृढ़ करने के लिए, दया धर्म और शान्ति का साम्राज्य स्थापित करने के लिए, एशिया को एक हो जाना चाहिए।

और एशिया एक होना चाहता भी है। हमारी यह खिलाफ़त की हलचल एक तरह से एशियाई एकता की नींव थी। इस्लाम के साथ का हमारा सम्बन्ध पुराना है। खिलाफ़त की हलचल में सहयोगी बनकर हमने उसे पूर्ण करने का प्रयत्न किया।

हम लोगों ने एशिया की एकता का प्रारम्भ खिलाफ़त से किया है। किन्तु यह एकता की कल्पना कुछ आज की नहीं है। दिग्विजयी आर्य राजाओं ने चीन से मिस्र तक और उत्तर ध्रुव से, कुछ नहीं तो, लङ्का और बालीद्वीप तक सांस्कृतिक एकता स्थापित करने के प्रयत्न किये हैं। और इस एकता में आर्य लोगों ने अपने पड़ोसियों को जितना दिया है, उतना उनके पास से निःसंकोच लिया भी है; अलबत्ते लिया है अपनी उच्च अभिरुचि के अनुसार पसन्दगी करके। मैं मानता हूँ कि धर्मराज का राजप्रासाद बनानेवाला मयासुर चीनदेशीय था, और उसकी पद्धति बृहस्पति तथा शुक्राचार्य दोनों की कला से भिन्न थी। यह भी माना जाता है कि चीनदेश की चित्रकारी और नृत्यकला का प्रभाव भारतीय कलाओं पर हुआ होगा।

इतिहासकारों की राय के अनुसार एक समय एशिया की कला-कुशलता का केन्द्र समरकन्द और भूटान के आसपास के देश में था। वहाँ से व्यापार के अनेक मार्ग भिन्न-भिन्न दिशाओं में जाते थे। एक रास्ता चीन की ओर जाता था, एक हिन्दुस्थान की ओर आता था, एक मिस्र देश में जाता था, और एक यूरोप में। और इस तरह वाणिज्य-व्यापार के साथ संस्कृति का भी विनिमय इस मध्यभूमि में होता था। जनार्दन की इच्छा हुई कि थोड़े दिनों के लिए ये सिरे एक-दूसरे से अलग होकर कुछ कुछ भिन्नता प्राप्त करें। बस, तुरन्त ही बालू के समुद्र उछलने लगे और उन्होंने अमू दरिया और सर दरिया के देश को उजाड़ कर दिया। आज भी, जब कि भारी आँधी आती है और बालू के परत उड़ जाते हैं तब, इस प्राचीन संस्कृति के अवशेष वहाँ मिलने लगते हैं।

आर्य लोग पहले से ही यात्रा-प्रवीण हैं। पहाड़ देखते ही उन्हें उसे पार करने की इच्छा हुए बिना नहीं रहती। नदी को देखकर तो उसके उद्गम-स्थान की खोज लगाये बिना नहीं रहते। आर्यों का देव इन्द्र भुज्यु को समुद्र के पार ले गया था। आर्य राजा हरेक राजसूय-यज्ञ में चीन और मिस्र देश के राजाओं को आमन्त्रित करते थे। अशोक राजा ने चारों दिशाओं में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने तथा अभय का सन्देश सुनाने के लिए आर्यों और अर्हतों को भेजा था और उस दिव्य सन्देश को सुनने के बाद दयामय धर्मराज भगवान् बुद्ध के देश की यात्रा करने को दिगदिगन्त के यात्री आने लगे थे।

एशिया की एकता साधने की सम्पूर्ण शक्ति धारण करनेवाला तत्त्व महायान बौद्ध-धर्म में भगवान् बुद्ध का उपदेश, तन्त्र-मार्ग की लोकप्रिय विधियाँ और अनेक देवताओं के वृन्द तो थे ही, पर इसके उपरान्त दुःख-सन्तप्त मनुष्य को दिलासा देनेवाले और परोपकारी वीर पुरुषों को आकर्षित करनेवाले बोधिसत्त्व का आदर्श भी था। जब महायान-पन्थ का प्रसार हुआ, तब हिन्दुस्थान का चीनदेश के साथ ईरान, बेक्ट्रिया आदि पश्चिम-एशिया के साथ और स्वर्णद्वीप (ब्रह्मदेश) के साथ सम्बन्ध घर के आँगन के समान हो गया था। इसके बाद धर्म-साम्राज्य की कल्पना अरबस्तान में पहुँची और उसने तीन खण्डों में एकेश्वरवाद और ममता का सन्देश पहुँचाया। अब भी यह धर्म मध्य-एशिया और अफ्रिका में नये-नये लोगों को अल्लाताला और उनके नबी साहब के चरणों में लाने का कार्य करता है। जब मुसलमानी धर्म का उदय हुआ तब हिन्दुस्थान के धर्म-धुरन्धर ब्राह्मण और श्रमण लोग

अनेक मठों में हिन्दुस्थान की प्राचीन संस्कृति के साक्ष्य रूप आहित्य, स्थापत्य और कला के नमूने मौजूद हैं। हिन्दुओं की परमपवित्र यात्रा कैलाश और मानसरोवर की है। इसके द्वारा हिन्दू और चीनी संस्कृति का देनलेन अखण्ड रूप से होता रहता था। आज भी वह कुछ अंशों में चल ही रहा है। जहाँ-जहाँ हिमालय पार करके उत्तर की ओर जाने के रास्ते हैं वहाँ-वहाँ आर्य संस्कृति के थाने खड़े हैं।

हिन्दुस्थान का शिष्य-समूह जितना हम जानते हैं उससे कहीं बड़ा है। चीनी और जापानी लोग हिन्दुस्थान को आदर की दृष्टि से देखते हैं। तिब्बत-यात्रा के मार्ग फिरसे खुलने लगे हैं। हिन्दुस्थान का अहिंसा का मार्ग सारे संसार में विख्यात हो गया है। यूरोप और एशिया के बीच के युद्ध में यदि हम अहिंसा-धर्म को प्रधान पद देंगे तो चीन देश में उसका प्रभाव जापान के ऊपर पड़ेगा। खिलाफत का फैसला हो जाने के कारण मुसलमानों ने भी अहिंसा-धर्म का महत्व समझ लिया होगा, और इस तरह केवल एशिया की ही नहीं, बल्कि सारे संसार की एकता करने के लिए आवश्यक वायुमण्डल तैयार हो जायगा।

एशिया को एक हो जाना चाहिए; किन्तु किसलिए? स्वार्थ के लिए नहीं; यूरोप से युद्ध करके उसको पदाक्रान्त करने के लिए नहीं; बल्कि यूरोप में जो स्वार्थ-परायण साम्राज्यवाद की बाढ़ आ गई है, उसका नाश करने के लिए और धर्म का साम्राज्य स्थापित करने के लिए।